पथ-पराग

मूल लेखक—

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक—कमला प्रसाद राय शर्मा, बी० ए०

[शताधिक पुस्तकों के अनुवादक
और रचयिता]

प्रकाशक—

उदय-प्रकाशन मन्दिर

वाराणसी।

प्रकाशक—

उदय-प्रकाशन मन्दिर

वाराणसी।

मूल्य—३।)

मुद्रक—

मन्नीलाल,

रस्तोगी प्रेस, वाराणसी।

पथ-पराग

मैदान के बीच हमारे आश्रम का यह विद्यालय है। यहाँ बड़े-छोटे हम सभी एक साथ रहते हैं, विद्यार्थी और अध्यापक एक ही कमरे में सोते हैं। इसी प्रकार यहाँ हमारे और भी साथी हैं। आकाश प्रकाश और हवा के साथ हमने कोई दूर का सम्पर्क नहीं रक्खा है। यहाँ प्रातःकाल का उजाला एकदम हमारी आँखों पर आ पड़ता है, आकाश के तारे बिलकुल ही हमारे चेहरों पर नजर डाले रहते हैं। जब आँधी आने लगती है तो वह बिलकुल दूरस्थ दिशा के छोर पर धूल की अपनी चादर फहराती हुई बहुत दूर से ही हमें खबर देती रहती है। जब किसी ऋतु का आगमन सन्निकट हो जाता है तब यह समाचार हमारे वृक्षों के पत्ते-पत्ते पर प्रकट हो जाता है। विश्वप्रकृति को एक पल भी हमारे दरवाजे के बाहर प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

हमारी इच्छा है कि, संसार के मनुष्यों के साथ भी हमारा ऐसा ही मेल-जोल बना रहे। सभी मनुष्यों के इतिहास में जो सब ऋतुएँ आती-जाती हैं, सूर्य का जो उदय और अस्त सम्पादित होता है, तूफानों और बादलों की जो झकझोरी चलती रहती है, सब चीजों को ही हम स्पष्टरूपसे और बड़े आकाश में बड़े आकार में देखने लगें यही है हमारे मन की इच्छा। लोगों की

बस्तियों से हम दूर रहते हैं, इसीलिए हमें यह सुअवसर प्राप्त है। संसार के सभी समाचार यहाँ किसी एक साँचे में आकर नहीं पड़ने पाते, हमारी इच्छा हो तो हम उसे बेरोकटोक विशुद्ध रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

मनुष्यों के जगत् के साथ अपने इस मैदान में स्थित विद्यालय का सम्बन्ध निर्विघ्न करने के लिए हम पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। हमें उस बड़ी पृथ्वी का निमन्त्रणपत्र मिला है। किन्तु इस निमन्त्रण की रक्षा करने तो विद्यालय के दो सौ छात्र एक ही साथ मिलकर न जा सकेंगे। इसी कारण मैंने निश्चय किया था कि, तुम लोगों की तरफ से मैं अकेले ही यह निमन्त्रण रख आऊँगा। अपने अकेले में ही मैं तुम सभी लोगों का भ्रमणकार्य पूरा कर डालूँगा। जब मैं फिर तुमलोगों के आश्रम में लौट आऊँगा, तब बाहर की पृथ्वी को अपने जीवन में बहुत परिमाणमें भर कर ला सकूँगा।

जब लौट आऊँगा तब आवश्यकतानुसार बहुत सी बातें होंगी। इस समय बिदाई के समय दो चार बातें खोलकर स्पष्टरूप से कह जाना चाहता हूँ।

मुझसे बहुत से लोग पूछा करते हैं, तुम यूरोपभ्रमण करने क्यों जा रहे हो? इस बात का क्या जवाब दूँगा, मेरी समझ में नहीं आता। भ्रमण करना ही भ्रमणार्थ जाने का उद्देश्य है, ऐसा एक सरल उत्तर यदि मैं दे दूँ तो प्रश्न करने वाले अवश्य ही यही सोचेंगे कि, इस बात को मैंने बहुत ही हलके तौर से उड़ा दिया। फलाफल का विचार करके लाभ-हानि का हिसाब न बता देने से लोगों को शान्त नहीं किया जा सकता।

आवश्यकता न रहने से कोई मनुष्य क्यों बाहर जायगा,

यह प्रश्न हमारे ही देश में सम्भव है। बाहर जाने की इच्छा ही, मनुष्य के लिए स्वभाव सिद्ध है, यह बात हमलोग बिलकुल ही भूल गये हैं। केवल हमारे घरों ने हमें इतने बन्धनों में बाँध रखा है कि, चौखट के बाहर कदम बढ़ाते समय, हमारे सामने ऐसी निषिद्ध यात्राएँ, इतनी अशुभ घड़ियाँ, इतनी छींक छिपकलियाँ, इतनी रुलाई आ खड़ी होती हैं कि, बाहर हमारे लिए अत्यन्त ही बाहर बन गया है, हमारे घरों के साथ उसका सम्बन्ध अत्यन्त विच्छिन्न हो गया है। आत्मीय-स्वजनों की मण्डली हमारे देश में ऐसी छिद्ररहित और ऐसी घनी है कि, दूसरों की तरह दूसरे हमारे लिए और कुछ भी नहीं हैं। इसीलिए थोड़े समय के लिए भी बाहर जाने में हमें इतनी कैफियत देनी पड़ती है।

बंधे रहते-रहते हमारे डैने ऐसे बँध गये हैं कि, उड़ने का आनन्द एक तरह का आनन्द है, यह बात हमारे देश में विश्वास करने योग्य नहीं है।

छोटी उम्र में जब मैं विदेश गया था, तब उसमें एक आर्थिक उद्देश्य था। सिविल सर्विस में प्रवेश करने या बैरिस्टर बनने की चेष्टा एक अच्छी कैफियत है—किन्तु बावन वर्ष की उम्र में वह कैफियत काम नहीं देती, इस समय किसी पारमार्थिक उद्देश्य की दुहाई देनी पड़ेगी।

आध्यात्मिक उन्नति के लिए भ्रमण की आवश्यकता है, यह बात हमारे देश के लोग मानते हैं। इसी कारण कोई-कोई कल्पना कर रहे हैं, मेरी यात्रा का उद्देश्य यही है। इसीलिए वे लोग आश्चर्य में पड़ रहे हैं कि, यह उद्देश्य यूरोप में पूरा होगा कैसे। इस भारतवर्ष के तीर्थों में घूम कर यहाँ के साधु-साधकों का सत्सङ्ग प्राप्त करना ही एक मात्र मुक्ति का उपाय है।

मैं शुरू में ही कहे रखता हूँ कि, केवल बाहर निकल पड़ना ही मेरा उद्देश्य है। भाग्यवश संसार में आ गया हूँ, संसार के साथ यथासम्भव अपना परिचय पूरा कर जाऊँगा, यही मेरे लिए यथेष्ट है। दो आँखें मुझे मिली हैं, ये ही दोनों आखें विराट को जितनी दिशाओं से जितनी विचित्रता के साथ देखेंगी, उतनी ही वे सार्थक होंगी।

फिर भी यह बात भी मुझे स्वीकार करनी पड़ेगी कि, लाभ की तरफ भी मुझे लोभ है। केवल सुख नहीं, इस भ्रमण के संकल्प में प्रयोजन सिद्ध करने की एक इच्छा गंभीर रूपसे छिपी हुई है।

मेरा खयाल है कि, यदि यूरोप के कोई व्यक्ति यथार्थ श्रद्धा के साथ भारतवर्ष भ्रमण करके जा सकें, तो उन्हें तीर्थ-यात्रा का फल मिलेगा। ऐसे यूरोपियनों के साथ मेरी भेंट हुई है, और उन पर मैं भक्तिभाव रखता हूँ।

इस भक्ति का कारण यह नहीं है कि, हमारे भारतवर्ष का माहात्म्य उनकी श्रद्धा के बीच से हमारे सामने उज्ज्वल होकर दिखाई पड़ता है। उन लोगों के ही हृदय की शक्ति देख कर मेरा मन प्रणत हो जाता है। अपरिचय को बाधाओं को हटाकर सत्यको स्वीकार करने और कल्याणको ग्रहण करने को शक्ति सर्वदा दिखाई नहीं पड़ती। दूसरों के देश में न जाने से सत्य के बीच सहज ही में संचरण करने की शक्ति का परिचय नहीं मिलता। जो कुछ अभ्यस्त है उसे ही बड़ा सत्य मानना और जो अभ्यस्त नहीं है, उसे ही तुच्छ या मिथ्या कह कर त्याग देना, यही दीनात्मा का लक्षण है।

अनभ्यास के मन्दिर के किवाड़ ठेलकर जब हम सत्य

की पूजा करके आ सकेंगे, तब हम सत्य के प्रति अपनी भक्ति की उपलब्धि विशेष रूप से कर सकेंगे। हमारी वह पूजा स्वतंत्र है, हमारी वह भक्ति प्रथाओं द्वारा अन्धभाव से संचालित नहीं है।

यूरोप जाकर संस्कारहीन दृष्टि से हम सत्य को प्रत्यक्ष रूप से देखेंगे, समझेंगे, इस श्रद्धा को लेकर यदि हम वहाँ यात्रा करें तो भारतवासी के लिए उसकी बराबरी का तीर्थ और कहाँ मिलेगा। भारत में श्रद्धापरायण जिन यूरोपीय तीर्थ-यात्रियों को मैंने देखा है, उनकी दृष्टि हमारी दुर्दशाओं पर न पड़ी हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु यह धूलि उनको अन्धा न बना सकी है, जीर्ण आवरण की आड़ में उन लोगों ने भारतवर्ष के अन्तरतम सत्य को देखा है।

ऐसी बात नहीं है कि यूरोप में भी सत्य का कोई आवरण नहीं है। वह आवरण जीर्ण नहीं है, वह बहुत उज्वल है। इसी कारण वहाँ के अन्तरतम सत्य को देख सकना शायद और भी कठिन है। वीर पहरेदारों से सुरक्षित, माणिक-मोतियों की झालरियों से खचित उस परदे को ही वहाँ का सर्वपेक्षा मूल्यवान पदार्थ समझ कर हम लोग आश्चर्य में पड़कर लौट आ सकते हैं—उसके पीछे जो देवता बैठे हुए हैं, उनको सम्भवतः प्रणाम करके आना नहीं हो पाता।

वही परदा वहाँ है, और वे नहीं हैं, ऐसी एक अद्भुत अश्रद्धा लेकर यदि हम वहाँ जायगे, तो इस यात्रा के खर्च की तरह फजूल खर्च और कुछ भी नहीं हो सकता।

यूरोपीय सभ्यता वस्तुगत है, उसमें आध्यात्मिकता नहीं है, यही एक बोली चारो तरफ प्रचलित हो गयी है, जिस कारण ही हो, ऐसी जनश्रुति जब प्रचार पाने लगती है, तब उसके फिर

सत्य बनने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पाँच आदमी जो बात कहते हैं, छठे आदमी को वही कहने में रुकावट नहीं पड़ती और तरह तरह के कंठों की आवृत्ति ही तब युक्ति का स्थान प्राप्त कर लेती है।

इस बात को प्रारम्भ में ही याद रखना आवश्यक है कि मानव समाज में जहाँ ही हम लोग जो कोई मङ्गल क्यों न देख लें, उसकी जड़ में ही आध्यात्मिक शक्ति रहती है। अर्थात्, मनुष्य कभी यन्त्रों के जरिये सत्य को नहीं पा सकता, उसको वह आत्मा के ही सहारे पा सकता है। यूरोप में यदि हम लोग मनुष्य की कोई उन्नति देख लें, तो निश्चित रूप से ही जान लेना होगा कि, उस उन्नति के मूल में मनुष्य की आत्मा है—वह जड़ की सृष्टि कभी नहीं है। बाहर के विकास से आत्मा की ही शक्ति का परिचय मिलता है।

यूरोप में मनुष्य मानवात्मा को प्रकाशित नहीं कर रहा है, केवल जड़ वस्तुओं को ही स्तूपाकार में रख रहा है, यह बात भी जैसी है, और यदि कहें कि 'वनस्पति केवल सूखी पत्तियाँ गिरा कर, जमीन को ढक देती है, वह अपने जीवन को प्रकाशित नहीं करती'—तो यह बात भी वैसी ही है।

वास्तव में, वनस्पति की प्रबल प्राणशक्ति ही प्रचुर पल्लवों को बरसाती है, लगातार छोड़े गये मृतपत्रों से उसकी मृत्यु प्रमाणित नहीं होती। जीवन ही प्रति क्षण मर सकता है—मृत्यु जब बन्द हो जाती है तभी यथार्थ मृत्यु होती है।

यूरोप में देख रहा हूँ, मनुष्य नयी-नयी परीक्षाओं और नये नये परिवर्तनों के मार्ग में चल रहा है—आज जिसको वह ग्रहण कर रहा है, उसको वह कल छोड़ रहा है। वह कहीं भी

चुपचाप पड़ा नहीं रहता। बहुतेरे कहते हैं, इसी से उसकी आध्यात्मिकता प्रमाणित होती है।

सारे संसार में भी हम लोग केवल ही परिवर्तन और मृत्यु देख रहे हैं। तो भी क्या इस विश्व के सम्बन्ध में ऋषियों ने यह नहीं कहा है कि, आनन्द से ही ये सब उत्पन्न हो रहे हैं। क्या अमृत ही अपने को मृत्यु-उद्गम के अन्दर से निरन्तर विस्तृत नहीं बना रहा है।

बाहर को ही चरम रूप से देखने से भीतर को देखा नहीं जाता और बाहर को भी सत्य रूप में ग्रहण करना असम्भव हो जाता है। यूरोप का भी एक भीतर है, उसकी भी एक आत्मा है, और वह आत्मा दुर्बल नहीं है।

यूरोप की उस आध्यात्मिकता का जब मैं देखूँगा, तभी उसके सत्य को देख पाऊँगा—तभी एक ऐसे सत्य पदार्थ को जान सकूँगा, जिसको आत्मा के बीच ग्रहण किया जाता है, जो केवल वस्तु नहीं है, जो केवल विद्या नहीं है, जो आनन्द है।

जिस विषय का वर्णन करने की चेष्टा मैं कर रहा हूँ, उसे सहज भाव से ही समझने लायक एक घटना सम्प्रति घटित हुई है। दो हजार यात्रियों को लेकर अतलान्तक सागर में एक जहाज चला जा रहा था। वह जहाज आधी रात को चलते समय हिमशैल से टकराकर जब डूबने लगा, तब अधिकांश यूरोपीय और अमेरिकी यात्री अपनी जीवन-रक्षा के लिए व्याकुलता न दिखाकर स्त्रियों और बालकों का उद्धार करने की चेष्टा करने लगे। इस प्रकार अपमृत्यु के अभिघात से यूरोप का बाहरी आवरण हट जाने से हमने एक पल में उसकी अन्तरतर मानवात्मा की एक सत्य मूर्त्ति देख ली।

ज्यों ही हमने उसे देख लिया, त्योंही उसके सामने सिर झुका देने में हमें लज्जा नहीं मालूम हुई। त्योंही आत्मा के परिचय से आत्मा का आनन्द उदार भाव से प्रकट हो गया।

इस घटना के थोड़े ही दिन बाद हमलोगों के कुछ मित्र ढाका से स्टीमर द्वारा लौट रहे थे। स्टीमर के आघात से पद्मा नदी के बीच एक नाव डूब गयी; उसके तीन आरोही जल में गिर पड़े। निकट ही पास से एक और नाव चली जा रही थी—जहाज के सब लोगों ने मिलकर चिल्लाना शुरू किया उद्धार के लिए उसके मल्लाह को बहुत बुलाया, पर वह जरा भी ध्यान न देकर चला गया। विपत्ति की कोई आशंका नहीं थी, वह निकट भी था, जो काम था वह किसी तरह भी दुस्साध्य नहीं कहा जा सकता।

मुझे एक और दिन की बात याद पड़ गयी। रात को प्रबल आँधी बह चुकी थी। प्रातःकाल हवा का वेग घट गया था, किन्तु नदी चंचल थी। गोराई नदी के किनारे मेरा बोट बंधा हुआ था; एकाएक मालूम हुआ, नदी के बीच से किसी स्त्री का शरीर बहता जा रहा है, जल के ऊपर बाल बिखरे पड़े हैं, और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। घाट के पास जो लोग थे, उन सभी को पुकार कर मैंने कहा—"मेरे छोटे लाइफ बोट के सहारे तैर कर उसका उद्धार कर ले आओ, हो सकता है कि, वह जीवित हो।" कोई भी आगे नहीं बढ़ा। मैंने कहा "जो भी जायँगे, उनमें से प्रत्येक को मैं पाँच रुपये पुरस्कार दूँगा। उसी क्षण कई आदमी नाव खेकर उसे उठा लाये; और मूर्च्छित स्त्री धीरे-धीरे चेतना प्राप्त कर गयी। पुरस्कार की आशा न रहने से कोई भी नहीं जाता।

किसी दूसरे दिन मैं बोट पर सवार होकर बड़ी झील से आ रहा था। झील का जल जिसजगह आकर नदी में गिरता है,

वहाँ मछली पकड़ने की सुविधा करने के लिए मछुए बड़े-बड़े खूँटे गाड़ कर जल के निकलने के मार्ग को संकीर्ण बना देते हैं, उससे जलधारा का वेग अत्यन्त प्रबल हो जाता है, ऐसे स्थानों में अनेक लादी हुई नावों को विपत्तिग्रस्त होते मैंने देखा है। ऐसे ही एक संकीर्ण रास्ते को पार करते समय मेरा बोट किसी तरह खूँटे का आघात बचाते समय एक भारी संकट के स्थान में अटक गया। आठ-दस हाथ की दूरी पर ही मछुए मछली पकड़ रहे थे। हमारी सहायता करने के लिए उनको पुकारा गया, उन लोगों ने नजर उठाकर भी नहीं देखा। बोट के माझी ने पुरस्कार देने का वचन दिया। उन लोगों ने पुकार बढ़ाने की आशा से बहरेपन का बहाना किया। बुलाहट बढ़ती हुई जब बहुत ही बड़े आँकड़े पर पहुँच गयी तब मछुओं की श्रवण-शक्ति की बाधा हठात् पूर्ण रूप से दूर हो गयी। किन्तु उनकी ही करनी का फल भोग करने की हालत में हम पहुँच रहे थे। हमारे देश के किसी पाठक को यह बताने की जरूरत नहीं है कि, यदि किसी हाकिम का बोट रहता तो उन लोगों की श्रवणशक्ति की परीक्षा से कोई दूसरा ही फल दिखाई पड़ता।

बोलपुर की दूकान में जब आग लग गयी थी, तब तुम लोगों को याद होगा, आग बुझाने के काम में चार विदेशी काबुलियों ने तुम्हारी सहायता की थी, किन्तु मुहल्ले के लोगों को पुकारने पर कोई उत्तर नहीं मिला था। याद है, जिनके यहाँ घड़ा माँगने गये थे, उन्होंने इस भय से कि उनका घड़ा अपवित्र होकर नष्ट हो जायगा, घड़ा देना नहीं चाहा।

हम अपने चारों तरफ त्याग में जो कृपणता देख पाते हैं, बहुत से उदाहरण देकर उसे प्रमाणित करने की चेष्टा न करनी पड़ेगी। क्योंकि हम लोग मुँह से जो कुछ भी क्यों न कहें, कम

से कम मन ही मन अपने चरित्र की यह त्रुटि हम सभी स्वीकार करते हैं।

आत्म-त्याग के साथ आध्यात्मिकता का क्या कोई सम्बन्ध नहीं है। यह क्या धर्मबल का ही एक लक्षण नहीं है। आध्यात्मिकता क्या केवल जन संग को वर्जन करके पवित्र बनी रहती है और नाम जप करती है, आध्यात्मिक शक्ति ही क्या मनुष्य को वीर्यप्रदान नहीं करती ?

टाइटनिक जहाज डूबने की घटना में हम ने एक क्षण में अनेक मनुष्यों को मृत्यु के सामने उज्ज्वल प्रकाश में देखा था। इसके द्वारा किसी एक मनुष्य की असाधारणता प्रकट हुई ऐसी बात नहीं है। सबसे बढ़कर आश्चर्य की बात यह है कि, जो लोग लक्ष्मी की गोद में पले हुए करोड़पती हैं, जो लोग रुपये के बल से चिरकाल अपने को दूसरों से अधिक ही समझते आये हैं, भोग में जिनको बाधाएँ नहीं मिली हैं और रोग में विपद में जो लोग अपने को बचाने का सुयोग दूसरे सब लोगों की अपेक्षा सहज में ही प्राप्त करते आये हैं, उन लोगों ने इच्छा-पूर्वक दुर्बलों को असमर्थों को बचने का रास्ता छोड़कर मृत्यु को वरण किया है। ऐसे करोड़पती इस जहाज में केवल एकाध जन मात्र नहीं थे।

आकस्मिक उत्पात से मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति ही सभ्य समाज का संयम छिन्न करके प्रकट होना चाहती है, सोचने का अवसर पा लेने से मनुष्य अपने आप को संयत कर सकता है। टाइटनिक जहाज में अँधेरी रात में किसी ने नींद से एकाएक जागकर, किसी ने आमोद-प्रमोद छोड़कर हठात् बाहर निकलकर, सामने अपघात मृत्यु की काली मूर्ति देख ली। उस समय यदि यही दिखाई पड़े कि, मनुष्य पागल की तरह बनकर असमर्थों को

एक तरफ हटाकर अपने को बचाने की चेष्टा नहीं कर रहा है तो, समझना होगा कि, यह वीरता आकस्मिक नहीं है, समूची जाति की बहुत दिनों की तपस्या के साथ आध्यात्मिक शक्ति ने भीषण परीक्षा में मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है।

इस जहाज-दुर्घटना में एक ही साथ भली भाँति जिस शक्ति को मैंने देखा है, यूरोप में उसी शक्ति को क्या विभिन्न दिशाओं में तरह तरह के आकारों में मैंने नहीं देखा है। देशहित और लोकहित के लिए सर्वस्व त्याग और प्राण विसर्जन के उदाहरण क्या वहाँ प्रतिदिन ही हजारों की संख्या में नहीं देखे जाते। उस बहुसञ्चित पुंजीभूत त्याग के द्वारा ही क्या यूरोपीय सभ्यता ने प्रवाल द्वीप की तरह सिर ऊपर नहीं उठाया है।

किसी समाज में कोई भी यथार्थ उन्नति नहीं हो सकती जिस की भित्ति दुःख पर प्रतिष्ठित नहीं है। इस दुःख को वे ही लोग वरण नहीं कर सकते, जो लोग मेटेरियेलिस्ट हैं, जो जड़ वस्तुओं के दास हैं। वस्तु में ही जिनको परम आनन्द है, वे वस्तुओं को किसलिए त्याग देंगे! वे कल्याण को प्राणों की अपेक्षा क्यों बड़ा स्वीकार करेंगे। शास्त्रविहित जिस पुण्य को मनुष्य पारलौकिक विषयसम्पत्ति की ही तरह जानता है, उस स्वार्थी पुण्य के लिए भी दुःख को वह स्वीकार कर सकता है—किन्तु जो पुण्य शास्त्र-विधि की सामग्री नहीं है, जो तीर्थयात्रा का दुःख नहीं है, जो शुभ नक्षत्रयोग का दान नहीं है, जो हृदय की स्वतन्त्र प्रेरणा है, उस दुःख—उस मृत्यु को क्या कभी कोई वस्तु-उपासक ग्रहण कर सकता है।

यूरोप में देश के लिए, मानव के लिए, ज्ञान के लिए, प्रेम के लिए, हृदय के स्वतन्त्र आवेग से उस दुःख को, उस मृत्यु को, हम लोगों ने प्रतिदिन ही वरण करते देखा है।

इसमें सबही असली नहीं है, इसमें बहुत सी ऐसी बातें हैं जो बहादुरी है, किन्तु उसी अपवाद से सत्य को खर्व करने की चेष्टा करना उचित नहीं है। किसी किसी रात्रि को चन्द्रमा के चारो तरफ एक ज्योति का चक्र दिखलाई पड़ता है। हम जानते हैं, वह चन्द्रमा नहीं है, वह छाया है, वह मिथ्या है। किन्तु, चन्द्रमा बीच में न रहता तो उस चन्द्र का आभास मात्र भी नहीं रह सकता। सभी समाजों में ही जो श्रेष्ठ पदार्थ है, उसको घेरकर, उसका प्रकाश उधार लेकर एक आभास का मण्डल तैयार हो जाता है। किन्तु वह नकल असल का प्रतिवाद नहीं करती, उसका ही समर्थन करती है। पाखण्डी संन्यासी को देखकर अपने देश के साधु-संन्यासियों पर अविश्वास करने से धोखा खाना पड़ेगा।

यूरोप के जो लोग असाधारण श्रेणी के हैं उनके बारे में हम पुस्तकों में पढ़ चुके हैं, उन्हें अपने पास हमने नहीं देखा है। अपने पास जिन दो-चार जनों को हमने देखा है, उनको यूरोप की नक्षत्र-मण्डली में स्थान नहीं मिला है। बहुत दिन हुए स्वीडेन के एक मनुष्य को मैंने देखा था, उनका नाम है हैमरग्रेन। उस दूर देश में भी दैवयोग से, उनको राम मोहन राय का कुछ परिचय किसी पुस्तक में मिला था। इससे उनके मन में एक ऐसी भक्ति जाग्रत हो उठी थी कि, अपनी दरिद्रतावस्था में भी देश छोड़कर वे बड़े कष्ट से समुद्र पार करके इस बंग देश में आ पहुँचे। यहाँ की भाषा वे नहीं जानते थे, मनुष्यों को नहीं पहचानते थे, तो भी बंगाली के मकान में ही आश्रय लेकर इस राम मोहन राय के देश को ही उन्होंने वरण कर लिया। जो थोड़े से समय वे जीवित रहे, क्या ही दुस्सह क्लेश सहकर, क्या ही निष्ठा और अध्यवसाय के साथ, साथ ही कैसी सम्पूर्ण नम्रता के बीच अपने को प्रच्छन्न रखकर, उन्होंने इस देश के हितार्थ अपना प्राणोत्सर्ग

कर दिया था, इसे जिन्होंने देखा है, वे कभी भूल न सकेंगे। निमतला घाट पर उनका मृत शरीर जलाया गया था। इस उपलक्ष्य में, हिन्दुओं का श्मशान कलुषित कर दिया गया कहकर हमारे किसी साप्ताहिक पत्र ने क्षोभ प्रकट किया था।

भागिनी निवेदिता ने, स्वामी विवेकानन्द के प्रति भक्ति रख कर कैसे अद्भुत आत्म त्याग के द्वारा भारतवर्ष के निमित्त अपने को उत्सर्ग कर दिया था, यह बात किसी से अविदित नहीं है।

इन दोनों उदाहरणों में ही हमने देखा है, इन दोनों भक्तों ने ऐसे स्थान में ऐसी अवस्था में आत्म-दान किया है जहाँ उनके जीवन का कोई पूर्वाभ्यस्त सहज मार्ग उनके सामने नहीं था, जहाँ उनके हृदय मन के आजन्म काल के संस्कारों को पग पगपर बाधा मिलती रही हो, जहाँ उन्होंने केवल आत्मोत्सर्ग ही किया हो ऐसी बात नहीं है, पग पग परआत्मोत्सर्ग का मार्ग उन्हें स्वयं ही खोद कर चलना पड़ा—क्योंकि उनका प्रवेश चारो तरफ ही अवरुद्ध था।

सत्य पर भक्ति रखने का यह सामर्थ्य, और सत्य के लिए दुर्गम बाधाओं को लाँघकर दिन पर दिन अपने को अकुण्ठित भाव से पूर्णतः दान करने की इस शक्ति को तो अपनी जातीय साधना से ही उन्होंने प्राप्त किया था। इस आश्चर्यजनक शक्ति को क्या वस्तु-उपासना की साधना से कोई किसी दिन पा सकता है। यह क्या सचमुच ही आध्यात्मिक नहीं है। और मैं पूछता हूँ, इस शक्ति को क्या हम यथेष्ट परिमाण में अपने देश में देख पाते हैं।

किन्तु इसीलिए हमारे देश में क्या आध्यात्मिकता नहीं है। मैं यह बात नहीं कहता। यहाँ भी आध्यात्मिकता का एक अंग प्रकाशित हुआ है। हमारे देश के जो साधक हैं उनमें से कोई तो ज्ञान में, कोई भक्ति में, अखण्ड स्वरूप को सभी खण्ड पदार्थों में

सहज ही में स्वीकार कर सकते हैं। यहाँ ज्ञान की ओर भावों की ओर बहुत दिनों की चिन्ताओं और साधनाओं से उनकी बाधाएँ अनेक परिमाण में क्षीण होती आयी हैं। इसीलिए हमारे देश के जो साधु पुरुष हैं, वे चित् लोक में या हृदय-भाव में अनन्त के साथ सहज ही में योग की उपलब्धि कर सकते हैं।

हमारे देश की मानव-प्रकृति में इस शक्ति को देखने के लिए यदि कोई विदेशी श्रद्धा और दृष्टिशक्ति लेकर आते हैं तो वे अवश्य ही कृतार्थ हो जायँगे, और सम्भवतः वे अपनी प्रकृति के अन्दर के एक अभाव को पूरा करके ले जा सकेंगे।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि, हम लोगों में भी वैसे ही पूरा करने के लिए एक अभाव है और वही अभाव हमें दुर्बलता के अवसाद में बहुत दिनों से खींच रहा है।

यह बात कहने से ही हमारे देशाभिमानी लोग बोल उठते हैं कि, हाँ अभाव तो है ही, किन्तु वह आध्यात्मिकता का नहीं है, वह वस्तुज्ञान का है, वह विषयबुद्धि का है—यूरोप इनके ही जोर से संसार के सभी दूसरों से आगे बढ़ गया है।

मैंने पहले ही कहा है, यह किसी तरह भी नहीं हो सकता। केवल वस्तु संचय के ऊपर किसी भी जाति की उन्नति खड़ी नहीं हो सकती, और केवल विषय-बुद्धि के बल से कोई भी जाति बल प्राप्त नहीं करती। दीपक में बहुत से तेल डाल सकने से भी दीप नहीं जलता और बत्ती बनाने की निपुणता में सुदक्ष हो जाने से भी दीप नहीं जलता—जैसे भी हो, उसमें आग लगानी ही होगी।

यूरोप आज संसार पर शासन कर रहा है वस्तु के जोर से, यह अविश्वासी नास्तिक की उक्ति है। उसके शासन की मूल शक्ति

निस्सन्देह धर्म का सार है, उसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता।

बौद्ध धर्म विषयासक्ति का धर्म नहीं है, यह बात सभी को स्वीकार करनी पड़ेगी। फिर भी भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के अभ्युदयकाल में और उसके बाद के युगों में उसी बौद्ध सभ्यता के प्रभाव से इस देश में शिल्प, विज्ञान, वाणिज्य और साम्राज्य शक्ति का जैसा विस्तार हुआ था, वैसा और किसी काल में नहीं हुआ था।

इसका कारण यह है, कि मनुष्य की आत्मा जब जड़ता के बन्धन से मुक्त हो जाती है, तभी आनन्द से उसकी सारी शक्तियाँ ही पूर्ण विकाश की तरफ उद्यम प्राप्त करती हैं। आध्यात्मिकता ही सभी शक्तियों का केन्द्रस्थल है, क्योंकि वह आत्मा की ही शक्ति है, परिपूर्णता ही उसका स्वभाव है। वह अन्तर बाहर किसी तरफ भी मनुष्य को खर्व करके अपने को आघात नहीं पहुँचाना चाहती।

यूरोप की जो शक्ति है, उसका बाह्य रूप जो भी क्यों न हो, उसका आन्तरिक रूप तो धर्म बल ही है इस सम्बन्ध में मेरे मन में सन्देह-मात्र नहीं है।

वहीं उसका धर्मतत्र अत्यन्त सचेतन है। वह मनुष्य के किसी दुःख किसी अभाव को ही उदासीन भाव से एक तरफ ठेलकर नहीं रख सकता। मनुष्य की सब प्रकार की दुर्गतियों को दूर करने के लिए प्रतिदिन ही वह दुस्साध्य चेष्टा में नियुक्त रहता है। इस चेष्टा के केन्द्र स्थल में जो एक स्वाधीन शुभ बुद्धि है, जो बुद्धि मनुष्य से स्वार्थ-त्याग करा रही है, आराम से खींचकर बाहर ला रही है और अकुण्ठित मृत्यु के मुँह में बुला रही है,

उसको कौन शक्ति प्रदान कर रहा है। कहाँ वह अमृत है जिसने इस उदार मंगल कामना को इस तरह सतेज रक्खा है।

ईसामसीह के जीवन-वृक्ष से जो धर्मबीज यूरोप के चित्तक्षेत्र में पड़ा है, वहाँ वहाँ इस प्रकार फलवान हो उठा है। उस बीज में जो जीवनी शक्ति है वह क्या है। वह है दुःख को परम धन कह कर ग्रहण करना। स्वर्ग की दया तो मनुष्य के प्रेम से मनुष्य के सभी दुःखों को अपना बना लेती है, यह बात आज बहुत सौ वर्षों से तरह-तरह के मंत्रों से अनुष्ठानों से और संगीतों से यूरोप सुनता आ रहा है। सुनते-सुनते इस आइडिया ने उसके एक ऐसे मर्मस्थल पर अधिकार जमा लिया है जो चेतना के भी अन्त-राल में स्थित अति चेतना का देश है—वहाँ की गुप्त निस्तब्धता के बीच से मनुष्य के सभी बीज अंकुरित हो उठते हैं—उस अगो-चर गम्भीरता के बीच ही मनुष्य के सभी ऐश्वर्यों की भित्ति स्थापित होती है।

इसीलिए आज यूरोप में सर्वदा यह एक आश्चर्यजनक घटना देख पाता हूँ, जो लोग मुँह से ईसाईधर्म को अमान्य करते हैं और जड़वाद की जयघोषणा करते हुए घूमते रहते हैं, वे भी समय उपस्थित होने पर धनप्राण से अपने को इस तरह त्याग देते हैं, निन्दा को, दुःख को इस तरह वीर की तरह वहन करते हैं कि, उसी समय समझा जाता है कि वे अपनी गैरजानकारी में भी मृत्यु के ऊपर अमृत को स्वीकार करते हैं सुख के ऊपर मंगल को ही सत्य कहकर मानते हैं।

टाइटनिक जहाज में जिन लोगों ने अपने प्राणों को निश्चित भाव से तुच्छ बनाकर दूसरों के प्राणों को बचाने की चेष्टा की वे सभी निष्ठावान और उपासनारत ईसाई रहे, ऐसी बात नहीं है, यहाँ तक कि उनमें नास्तिक या आज्ञेयिक भी कोई-कोई रह सकते

हैं, किन्तु वे लोग केवल मतभेद रखने के ही कारण समूची जाति की धर्मसाधना से अपने को बिलकुल ही विच्छिन्न कैसे करेंगे। किसी भी जाति में जो लोग तापस हैं, वे उस जाति के सभी लोगों के होकर तपस्या करते हैं इसलिए उस जाति के पन्द्रह आने मूढ़ लोग भी यदि उन तापसों के शरीर पर धूल डालते हैं, तो भी वे तपस्या के फल से ही पूर्णतः वंचित नहीं होते।

भगवान के प्रेम से मनुष्य के छोटे बड़े सभी दुःखों को स्वयं वहन करने की शक्ति और साधना हम अपने देश में विस्तृत रूप से नहीं देख पाते, यह बात जितनी ही अप्रिय क्यों न हो, तो भी हमें स्वीकार करनी ही पड़ेगी। प्रेमभक्ति में भावों का जो आवेग रहता है, रस की जो लीला रहती है, वह हम लोगों में यथेष्ट है, किन्तु प्रेम में जो दुःख स्वीकार चाहिये, जो आत्मत्याग आवश्यक है, जिस सेवा की आकांक्षा रहनी चाहिये, जो वीर्य के द्वारा ही साध्य है, वह हमलोगों में क्षीण है। हम जिसे देवसेवा कहते हैं वह दुःखपीड़ित मनुष्यों में भगवान् की सेवा नहीं है। हमने प्रेम की रसलीला को ही एकान्त भाव से ग्रहण किया है, प्रेम की दुःखलीला को स्वीकार नहीं किया है।

दुःख को लाभ की दृष्टि से स्वीकार करने में आध्यात्मिकता नहीं है, दुःख को प्रेम की दृष्टि से स्वीकार करना ही आध्यात्मिकता है। कृपण धन संचय करने में जो दुःख भोग करता है, पारलौकिक सद्गति के लोभ से पुण्यकामी व्यक्ति जो दुःख व्रत ग्रहण करता है, मुक्तिलोलुप मुक्ति के लिए जो दुःख साधन करता है और भोगी भोग के लिए जिस दुःख को वरण करता है वह किसी तरह भी परिपूर्णता की साधना नहीं है। उससे आत्मा का अभाव और दैन्य ही प्रकट होता है। प्रेम के लिए जो दुःख

है, वही यथार्थ त्याग का ऐश्वर्य है, उसीसे मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है और आत्मा की शक्ति को और आनन्द को सब के ऊपर महान् बना देता है।

इस दुःखलीला के क्षेत्र में ही हम अपने को छोड़ कर विश्व को सत्य भाव से ग्रहण कर सकते हैं। सत्य का मूल्य ही यह दुःख है। यह दुःखसम्पद ही मानवात्मा का महान् ऐश्वर्य है। इस दुःख के ही द्वारा उसका बल प्रकट होता है और इस दुःख के द्वारा ही वह अपने को और दूसरों को पा जाता है। इसीलिए शास्त्र कहता है, नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। अर्थात् दुःख स्वीकार करने का बल जिसमें नहीं है, वह सत्य भाव से अपनी उपलब्धि नहीं कर सकता।

इसका एक प्रमाण यह है, हम लोग अपने देश को आप ही प्राप्त न कर सके हैं। हमारे देश के लोगों में से कोई किसी का अपना नहीं हुआ, देश जिसको चाहता है, वह उत्तर नहीं देता। यहाँ की जन संख्या बहुत कम नहीं है, किन्तु यह संख्याधिक्य उसकी शक्ति को प्रकट न करके उसकी दुर्बलता को ही व्यक्त करता है।

इसका प्रधान कारण यह है कि हम लोग दुःखों के द्वारा परस्पर को अपना नहीं बना सके हैं। हमने देश के मनुष्यों को कोई मूल्य नहीं दिया है—मूल्य न देने से पावेंगे कैसे। माँ अपने गर्भ की सन्तान को भी प्रतिक्षण सेवा दुःख का मूल्य देकर प्राप्त करती हैं। जिसको ही हम लोग सत्य समझ कर मन में श्रद्धा करते हैं, उसको ही हम यह मूल्य स्वभावतः ही देते रहते हैं, किसी को भी तकाजा नहीं करना पड़ता। चारों तरफ के मनुष्यों को हम लोग हृदय के साथ सत्य समझ कर ग्रहण नहीं कर सके हैं, इसी लिए अपने को आनन्द के साथ हम त्याग भी नहीं सके।

मनुष्य को इस तरह सत्य मानकर देखना, यह आत्मा की सत्य दृष्टि अर्थात् प्रेम के द्वारा ही होता है। तत्वज्ञान जब कहता है, सर्वभूत ही एक है, तब वह एक वाक्य मात्र है, उस तत्व वचन के द्वारा सर्वभूत को आत्मवत् नहीं बनाया जा सकता। प्रेम नामक आत्मा की जो चरम शक्ति है, जिसका धैर्य असीम है, अपने को त्याग करने में ही जिसका स्वाभाविक आनन्द है, वही सेवातत्पर प्रेम न रहने से और किसी बात से भी पर को अपना नहीं बनाया जा सकता, इस शक्ति के द्वारा ही देशप्रेमिक परमात्मा की समस्त देश में उपलब्धि करते हैं, मानवप्रेमिक परमात्मा को समस्त मानवों में प्राप्त करते हैं।

यूरोप के धर्म ने यूरोप को उस दुःखप्रदीप्त सेवापरायण प्रेम की दीक्षा दी है। इसके जोर से ही वहाँ मनुष्य के साथ मनुष्य का मिलन सहज हुआ है। इसके जोर से ही वहाँ दुःख-तपस्या की होमाग्नि बुझ नहीं रही है, और जीवन के सभी विभागों में ही सैकड़ों तपस्वी आत्माहुति का यज्ञ करके समस्त देश के चित्त में निरन्तर तेज संचार कर रहे हैं। उस दुःसह यज्ञाग्नि से जिस अमृत का उद्‌भव हो रहा है, उसके द्वारा ही वहाँ शिल्प-विज्ञान साहित्य वाणिज्य राष्ट्रनीति का ऐसा विराट विस्तार हो रहा है; यह किसी कारखाने में लोहे के यन्त्र से तैयार नहीं हो सकता। यह तपस्या से उत्पन्न होता है, और वह तपस्या की अग्नि ही मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति है, मनुष्य का धर्मबल है।

इसीलिए मैं देख पाता हूँ, बौद्ध युग में भारतवर्ष ने जब प्रेम के उस त्याग धर्म को वरण कर लिया था, तभी समाज में उसका ऐसा एक विकास हो गया था, जिसे यूरोप में हम सम्प्रति देख रहे हैं। रोगियों के लिए औषध-पथ्य की व्यवस्था, यहाँ तक कि पशुओं के लिए भी वहाँ चिकित्सालय स्थापित हुए थे और जीवों

का दुःख दूर करने की चेष्टा तरह तरह के आकार धारण करके दिखाई पड़ो थी, तब अपने प्राण और आराम को तुच्छ बनाकर धर्माचार्यों ने दुर्गम पथ को पार करके परदेशीय लोगों और बर्बर जातीय लोगों की सद्गति के लिए दल के दल में और कायरता छोड़कर दुःख उठाया है। भारतवर्ष में उस दिन प्रेम ने अपने दुःख रूप को विकसित करके ही भक्तजनों को वीर्यवान महान् मनुपत्व की दीक्षा प्रदान की थी। इस कारण ही भारतवर्ष उस दिन धर्म के द्वारा केवल अपनी आत्मा को नहीं, पृथ्वी को जीत सका था और आध्यात्मिकता के तेज से ऐहिक पारलौकिक उन्नति को उसने एकत्र सम्मिलित कर लिया था। उस समय यूरोप को ईसाई सभ्यता स्वप्न के अतीत थी। भारतवर्ष का वही दुःखव्रत आत्म त्याग परायण प्रेम की उज्जल दीप्ति कृत्रिमता और भावरसावशेष द्वारा आच्छन्न हो गयी है, किन्तु वह क्या बुझ गयी है, यदि बाहर कहीं भी उसका उद्बोधन वह देख ले, तो उसे क्या अपने आप की उसे आप ही याद न पड़ेगी। आज जो चीज पराये घर में विराज रही है, उसे ही क्या उसे अपनी सामग्री समझने की चेतना न होगी। शक्ति की आग जहाँ प्रचुर परिमाण में जलती है, वहाँ राख-भस्म का भी ढेर लग जाता है, यह बात याद रखनी पड़ेगी। निर्जीवता का उत्ताप थोड़ा रहता है, उसका दायित्व साधारण रहता है, उसकी दुर्गति की मूर्ति अत्यन्त प्रशान्त रहती है। अशान्ति का क्षोभ और पाप की प्रचण्डता यूरोपीय समाज में जिस तरह प्रत्यक्ष होने लगती है, उस तरह हमारे देश में नहीं होती यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी।

किन्तु, उसको उन लोगों ने उदासीन भाव से नहीं मान लिया है। उसने उन लोगों के चित्त को अभिभूत नहीं किया है, वरन सतत ही जाग्रत कर रक्खा है मैलेरिया के वाहन मच्छड़ों से

आरम्भ करके समाज के भीतर के पाप तक सभी असुरों के साथ ही वहाँ आमने-सामने की लड़ाई चल रही है, भाग्य के ऊपर निर्भर करके कोई बैठा नहीं है, अपने प्राणों को भी संकटपन्न करके, वीरों का दल संग्राम कर रहा है। मैं सम्प्रति London police courts नामक एक आश्चर्यजनक पुस्तक पढ़ रहा था। उस ग्रन्थ में राजधानी लन्दन के निचले अन्धकारमय तले में दरिद्रता की मलिनता और पाप की पंकिलता खुले रूप से वर्णित हुई है। यह चित्र जितना ही निदारुण क्यों न हो, ईसाई तापस का अद्भुत धैर्य, वीर्य और करुणापरायण प्रेम सारी वीभत्सताओं को पार करके उज्ज्वल दीप्ति में प्रकट हो गया है। गीता में एक आशा की वाणी है, स्वल्प परिमाण में कर्म भी महत् भय से त्राण करता है। किसी समाज में वह धर्म जब तक सजीव दिखाई पड़ता है, तब तक वहाँ की बहुत अधिक परिमाण की दुर्गतियों की अपेक्षा भी उसको बृहत् रूप में जान लेना होगा।

यूरोप में दुर्बल जातियों के प्रति न्याय धर्म का व्यभिचार नहीं दिखाई पड़ता, ऐसी बात नहीं है, किन्तु वही एक मात्र विद्यमान नहीं है उसके साथ ही उस निष्ठुर बलदृप्त लुब्धता के बीच से ही धिक्कार और भर्त्सना उच्छ्वसित हो रही हैं। प्रबलों के अन्यायों का प्रतिवाद कर सकते हों और प्रतिकार करना चाहते हों, ऐसे साहसी वीर भी वहाँ अनेक हैं। दूरवर्ती अन्य जातियों का पक्ष अवलम्बन करके निर्यातन सहने में कुंठित नहीं होते, ऐसे-दृढ़निष्ठ साधु व्यक्तियों का वहाँ अभाव नहीं है। स्वदेश के राज्य-शासन में प्रशस्त अधिकार प्राप्त करें, इस चेष्टा में लगे हुए कुछ इने-गिने भारतीय हमारे देश में हैं—किन्तु दीक्षा उन्हें किन लोगों से मिली है और उनके यथार्थ सहाय कौन हैं। जो लोग स्वजनों के कटु वचनों और प्रतिकूलताओं को स्वीकार करके

स्वजाति की स्वार्थपरता के क्षेत्र को संकीर्ण बनाने के लिए देश के लोगों को धर्म की दोहाई दे रहे हैं, वे किस देश के मनुष्य हैं। वे लोग संख्या में थोड़े हैं, किन्तु सत्य दृष्टि से देखने से दिखाई पड़ेगा कि, वे संख्या में कम नहीं हैं। क्योंकि, उन लोगों के बीच ही उनका अन्त नहीं है। देश में गोचर और अगोचर उनकी एक परम्परा है। वे सभी एक काम कर रहे हैं या एक समय में हैं, ऐसी बात नहीं है, किन्तु वे ही हैं समाज के भीतर की न्यायशक्ति। वे ही हैं क्षत्रिय; पृथ्वी के सभी दुर्बलों का क्षय से त्राण करने के लिए उन लोगों ने सहज कवच धारण किया है। दुःख से मनुष्यों को उद्धार करने के लिए जिन्होंने दुःख वहन किया था, मृत्यु से मनुष्यको अमृत लोक में ले जाने के लिए जिन्होंने मृत्यु का स्वीकार किया है, उसी अपने स्वर्गीय गुरु के अपमानित रक्ताक्त दुर्गम पथ से वे पाँत-पाँत में चले जा रहे हैं। समूची जाति के चित्त-प्रान्तर के बीच से वे ही हैं अमृत-मन्दाकिनी की धारा।

हम लोग सर्वदा ही अपने को यह कहकर सान्त्वना देते रहते हैं कि हम हैं धर्मप्राण अध्यात्मिक जाति, बाहर के विषयों पर हमारा मनोयोग नहीं है; इसीलिए बाहरी विषयों में ही हम दुर्बल हो गये हैं। बाहर के दैन्य के सम्बन्ध में अपनी लज्जा को इसी तरह हम खर्च करना चाहते हैं। हममें से बहुत ही लोग मुँह से आस्फालन करके कहा करते हैं कि दरिद्रता ही हमारा भूषण है।

ऐश्वर्य पर अधिकार करने की शक्ति जिन लोगों में है उनका ही आभूषण दारिद्र्य है। जिस भूषण का कोई मूल्य ही नहीं है, वह भूषण ही नहीं है। इसलिए त्याग का दारिद्र्य ही भूषण है, अभाव का दारिद्र्य भूषण नहीं है। शिव का दारिद्र्य ही भूषण है, अलक्ष्मी का दारिद्र्य कुत्सित है। जो लोग भरपेट भोजन न

मिलने के कारण, सदा थकावट से मलिन रहते हैं, जो लोग किसी तरह प्राण रक्षा करना चाहते हैं, फिर भी प्राण बचाने का कठिन उपाय ग्रहण करने की शक्ति न रहने के कारण जो लोग बार-बार धूल में लोट-पोट होते रहते हैं, दरिद्र होने के कारण ही जो लोग सुयोग पाने से दूसरे दरिद्र का शोषण करते हैं, और असभ्य रहने के कारण ही सामर्थ्य पाकर जो लोग असमर्थ पर आघात करते हैं, उनका दारिद्र्य कभी भूषण नहीं हो सकता।

हम लोगों के ये जो दुःख, दारिद्र्य, अपमान हैं, इन्हें किसी तरह भी हम अपनी धर्मप्राणता का पुरस्कार कहकर आध्यात्मिकता के क्षेत्र को फैला नहीं सके हैं। उन्हें हमने व्यक्तिगत साधना में बन्द कर रक्खा है, उनके आह्वान से सभी मनुष्यों को एकत्र नहीं किया है; जहाँ सामाजिक शासनों के अन्ध उपद्रवों से विधि-विधानों के पत्थर के जाँते में मनुष्य की विचारशक्ति और स्वतंत्र मंगलबुद्धि को पीसकर सभी को हमने एकाकार बना डाला है, वहाँ ही धर्म-सम्बन्धी बोधों की संकीर्णता ने ही हमें जड़पिण्ड बनाकर गुलामी के उपयुक्त बना डाला है। हम लोग अब भी यही सोच रहे हैं कि कानून के जरिये हमारी दुर्गति का प्रतीकार होगा, राष्ट्र-शासन-सभा में आसन पाकर हम मनुष्य बन जायँगे—किन्तु जातीय सद्‌गति कोई यन्त्र की सामग्री नहीं है और मनुष्य की आत्मा जबतक अपने भीतर से उसका पूरा मूल्य चुका देने के लिए तैयार न हो सकेगी, तबतक नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।

इसीलिए मैं कह रहा था, तीर्थयात्रा की अभिलाषा करके ही यदि यूरोप में जाना पड़े तो वह निष्फल न होगी। वहाँ भी हम लोगों के गुरु हैं; वह गुरु वहाँ के मानव समाज की अन्तरतम दिव्य शक्ति हैं। सर्वत्र ही गुरु को श्रद्धा के गुण से अनुसन्धान

कर लेना पड़ता है; आँखें खोल देने से वे दिखाई नहीं पड़ते। वहाँ भी जो समाज के प्राणपुरुष हैं, अन्धकार और अहंकार-वश उनको बिना देखे लौट आना असम्भव नहीं है; और ऐसी एक अद्भुत धारणा लेकर आना भी आश्चर्य की बात नहीं है कि—इङ्गलैण्ड का प्रताप पार्लमेण्ट के द्वारा उत्पन्न हो रहा है; यूरोप का ऐश्वर्य कारखानों में तैयार हो रहा है और पाश्चात्य महादेश का समस्त माहात्म्य, युद्ध के अस्त्रों, व्यापार के जहाजों और बाह्य वस्तुपुंजों से संघटित है। अपने अन्दर शक्ति की सत्य अनुभूति जिसे नहीं है, अति सहज में ही वह यही सोच लेता है कि शक्ति बाहर ही है और यदि किसी सुयोग से हम लोग भी केवल उन वस्तुओं को दखल कर सकें तो उसी हालत में हम लोगों का अभाव पूरा हो जाता है। किन्तु, येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्—यह बात यूरोप के भी अन्तर की बात है। यूरोप भी निश्चित रूप से जानता है, रेल से, टेलीग्राफ से, कल-कारखानों से वह बड़ा नहीं बना है। इसी लिए यूरोप ने वीर की भाँति सत्य व्रत ग्रहण किया है, वीर की तरह सत्य के लिए वह धन-प्राण उत्सर्ग कर रहा है; और जितनी ही भूलें कर रहा है, जितनी ही विफलताएँ हो रही हैं, उतने ही दुगुने उत्साह के साथ नये सिरे से वह उद्योग आरम्भ कर रहा है। बीच-बीच में असंगत दिखाई पड़ रहा है, संघात से संघर्ष से आग जलती जाती है, किन्तु निकृष्ट को वे लोग कभी मान लेने को तैयार नहीं हैं। उनके अस्त्र तैयार हैं, उनके सैन्यदल निर्भीक हैं और सत्य की दीक्षा से उन लोगों ने मृत्यु-विजयी बल प्राप्त कर लिया है। हम लोगों ने सत्य के सम्मुख न होने में आलस्य किया है, हम सत्य की साधना में उदासीन हैं, हमने घर के बनाये बँधे बन्धनों में सिर से पैर तक अपने को जकड़कर उसी को सत्य आश्रय कह कर कल्पना की है।

इसीलिए विपद् का दिन जब आसन्न हो जाता है, सत्यपन्था के बिना जब हमें और गति नहीं रहती, तब हम लोग किसी तरह भी अपने को जाग्रत नहीं कर सकते, अपने को त्याग नहीं सकते। तब भी खेलने को ही हम काम समझने लगते हैं, नकल करके ही असल का फल पाने की आशा करते हैं, कृत्रिम उत्साह को उद्दीप्त नहीं रख सकते, आरम्भ न किये हुए काम को समाप्त नहीं कर सकते और अधिक परिमाण में तात्विकता और भावुकता के जाल में जड़ित होकर बारंबार विफल होते रहते हैं, इसीलिए सत्य के दायित्व को वीर की तरह सर्वान्तःकरण से स्वीकार करने की दीक्षा, उस सत्य के प्रति अविचलित प्राणान्तिक निष्ठा, जीवन की समस्त श्रेष्ठ सम्पद् को प्राणपन दुःख का मूल्य देकर अर्जन करने की साधना और बुद्धि, हृदय तथा कर्मों से सब प्रकार से मनुष्यों का कल्याण-साधन और मनुष्य के प्रति श्रद्धा द्वारा भगवान् का दुस्साध्य सेवाव्रत ग्रहण करनेवाले तीर्थयात्री की यूरोप-यात्रा कभी निष्फल नहीं हो सकती। अवश्य ही, यदि उसके मन में श्रद्धा रहे, और सर्वाङ्गीन मनुष्यत्व की परिपूर्णता को ही यदि वह आध्यात्मिक सफलता का सच्चा परिचय कह कर विश्वास करे।

मैं जानता हूँ, यूरोप के साथ एक स्थान पर हमारे स्वार्थों का संघर्ष हुआ है और उसी संघर्ष से हमें हृदय में और बाहर भी अनेक स्थानों में गम्भीर वेदना मिल रही है। वह वेदना हमारी आध्यात्मिक दीनता का ही दुःख है और हमारे संचित पापों का ही प्रायश्चित्त है, फिर भी वह वेदना ही है। हमारे लिए इस वेदना के उपलक्ष्य जो लोग हैं, उनकी क्षुद्रता और निष्ठुरता का परिचय हम लोग तरह तरह के आकारों में पाते रहते हैं। यह भी हम लोगों ने प्रतिदिन देखा है, उन लोगों ने अपनी नीचता को

उद्धत कपटता से गुप्त रक्खा है और परजातीय माहात्म्य को अन्धता और अहंकार के द्वारा अस्वीकार कर दिया है। इस कारण ही हम अपनी उस क्षतवेदना को लेकर यूरोप के सत्य को देखने और उसे ग्रहण करने में हृदय में बाधा पाते रहते हैं। उन लोगों के धर्म को भी हम अविश्वास करते हैं और उनकी सभ्यता को हम वस्तु-जाल-जड़ित स्थूल पदार्थ कहकर उसकी निन्दा करते रहते हैं। केवल यही नहीं, हमें यह भय लगा रहता है, पीछे कहीं हम प्रबलों की प्रबलता को ही सत्य का आसन देकर उसकी पूजा न करने लगें और उसके सामने धूलिकुंठित होकर अपने को अपवित्र न बना डालें, पीछे दूसरों के गौरव को अपने गौरव के साथ ग्रहण न कर सकें, पीछे आत्मअविश्वास के अवसाद से अपने सत्य को विसर्जित करके अनुकरण की शून्यता के बीच दूसरे की काया की परछाई और दूसरों की ध्वनि की प्रतिध्वनि बनकर जगत-संसार में अपने को बिलकुल ही व्यर्थ न बना डालें; पीछे ऐसी एक अद्भुत भूल न कर डालें कि दूसरों को स्वीकार करने के लिए तत्पर होने में अपने को अस्वीकार कर लेना ही यथार्थ उदारता का मार्ग है।

ये सब बाधा-विपत्तियाँ हैं; इसीलिए इस मार्ग में सत्य की खोज करने की यात्रा तीर्थयात्रा है। सभी असत्यों को अतिक्रम करके ही चलना पड़ेगा; बाधाओं के दुःख को सहन करके ही अग्रसर होना पड़ेगा। आत्म-अभिमान के व्यर्थ बोझ को पीछे फेंक जाना होगा, फिर भी आत्मगौरव के राह-खर्च की अतिशय यत्न से रक्षा करके चलना पड़ेगा। वस्तुतः अत्यन्त विघ्नों के द्वारा ही हम लोग इस तीर्थयात्रा का पूरा फल लाभ कर सकते हैं; क्योंकि, जिसे हम सहज ही में पा जाते हैं, उसे हम सचेत न होकर ग्रहण नहीं करते। फिर भी किसी महान् लाभ की यथार्थ

सफलता ही चेतना का पूर्णतर विकास है, अर्थात् हम लोग जो कुछ सत्य भाव से पा जाते हैं, उसके द्वारा अपने को ही, सत्यतर रूप से उपलब्धि करते हैं—यह यदि हम न करें, यदि बाहर की वस्तुओं को ही बाहर पा जायँ, तो वह है माया, वह है मिथ्या।

७

बम्बई नगर

कल तीसरे पहर को बम्बई शहर पर एक नजर घुमा आने के लिए मैं निकल पड़ा था। प्रथम छवि को देखते ही विचार उठा कि बम्बई शहर का एक विशेष चेहरा है, कलकत्ते का मानो कोई चेहरा नहीं है, वह मानो जैसे-तैसे जोड़-बटोर कर तैयार किया गया है।

असल बात यह है कि, समुद्र ने बम्बई शहर को आकार प्रदान किया है, अपनी अर्ध चन्द्राकृति तटभूमि से उसे जकड़ रखा है। समुद्र का आकर्षण बम्बई के सभी रास्तों और उसकी सभी गलियों के भीतर से काम कर रहा है। मुझे जान पड़ता है मानो यह समुद्र एक प्रकाण्ड हृत्-पिण्ड है। वह प्राणधारा को बम्बई की शिरा-उपशिरा के भीतर से खींच ले रहा है और भर रहा है। समुद्र ने चिर दिन इस शहर को वृहत् बाहर की तरफ उसका मुख करके रख छोड़ा है।

प्रकृति के साथ कलकत्ता के मिलन का एक बन्धन गंगा नदी का था। यह गङ्गा की धारा ही सुदूर की वार्ता को रहस्य की तरफ ढो ले जाने का खुला रास्ता बनी हुई थी। शहर की यही एक खिड़की थी, जहाँ मुँह बढ़ा देने से समझा जाता था कि यह जगत् इन लोकालयों के बीच आबद्ध नहीं है। किन्तु गङ्गा की प्राकृतिक महिमा अब नहीं रह गयी है, दोनों तटों ने उसे कड़ी कसी हुई पोशाक पहना दी है, और उसके कमरबन्ध को ऐसी कड़ाई

से कसकर बाँध दिया है कि, गंगा ने भी लोकालयों के ही प्यादे की मूर्ति धारण कर ली है, माल ढोनेवाले बोट को लादकर पाट के बस्ते चालान करने के सिवा, उसका और कोई बड़ा काम था, यह समझने का उपाय नहीं है। जहाज के मस्तूल के करट-कारण्य में मकरवाहिनी के मकर की सूँड लज्जा के मारे कहाँ छिप गयी।

समुद्र की विशेष महिमा यह है कि, मनुष्य का काम वह कर देता है किन्तु दासता का चिह्न वह गले में नहीं पहिनता। जूट का कारोबार उसके विशाल वक्ष की नीलकान्त मणि को ढक नहीं सकता। इसीलिए इस शहर के किनारे समुद्र की मूर्ति अक्लान्त है; जैसे एक तरफ वह मनुष्यों के काम को सारी पृथ्वी में बिखेर रहा है, वैसे ही दूसरी तरफ मनुष्यों की थकावट को दूर कर रहा है, घोरतर कर्म के सामने ही एक विराट अवकाश को उसने खोल रक्खा है।

इसीलिए मुझे तब बहुत ही अच्छा मालूम हुआ जब मैंने देखा कि, सैकड़ों स्त्री-पुरुष सजावट-बनावट करके समुद्र के किनारे बैठे हुए हैं। अपराह्न के अवसर के समय कोई समुद्र की पुकार को अमान्य न कर सका। समुद्र की गोद के पास इनके काम हैं, और समुद्र की गोद के पास इनका आनन्द है। हमारे कलकत्ता शहर में एक इडेन गार्डेन है, किन्तु वह कृपण के घर की लड़की है, उसके कंठ में आह्वान नहीं है। वह है राजपुरुषों का बनाया बगीचा—वहाँ कितने ही शासन, कितने ही निषेध हैं। किन्तु समुद्र तो किसी का बनाया हुआ नहीं है, इसको तो घेर रखने का उपाय नहीं है। इसीलिए समुद्र के किनारे बम्बई शहर का ऐसा नित्योत्सव है। कलकत्ते के किसी स्थान में ही तो उस असंकोच आनन्द का जरा भी स्थान नहीं है।

जिसे देखने से सबसे अधिक हृदय शीतल हो जाता है, वह है यहाँ के नर-नारियों का मेला। नारी-वर्जित कलकत्ते का दैन्य कितना अधिक है, यह यहाँ आने से ही दिखाई पड़ता है। कलकत्ते में हम मनुष्य को आधे हिस्से में ही देख पाते हैं, इसी लिए उसका आनन्द रूप हम नहीं देखते। अवश्य ही उसे न देखने की एक सजा है।

अवश्य ही वह मनुष्य के मन को संकीर्ण बना रहा है; उसके स्वाभाविक विकास से उसे वंचित कर रहा है। अपराह्न में स्त्री-पुरुष और बच्चे समुद्र के किनारे एक ही आनन्द में मिले-जुले हैं, सत्य की यह एक अत्यन्त स्वाभाविक शोभा न देख सकने की तरह भाग्यहीनता मनुष्य के लिए और कुछ भी नहीं हो सकती। जो दुःख हमें अभ्यस्त हो गया है, वह हमें अचेतन बना रखता है, किन्तु उसकी हानि प्रतिदिन ही जमा होती रहती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। घर के कोने में हम स्त्री-पुरुष मिलते-जुलते हैं, किन्तु वह मिलन क्या सम्पूर्ण है। बाहर मिलने के लिए जो उदार विश्व पड़ा हुआ है वहाँ क्या सरल आनन्द से एक दिन भी हम लोगों की भेंट-मुलाकात न होगी।

हम लोगों की गाड़ी मैथरन रोड के पहाड़ के ऊपर एक बगीचे के सामने आ खड़ी हुई। छोटे से बगीचे को घेर कर चारो तरफ बेंचें बिछी हुई हैं। यहाँ भी देखता हूँ कि, कुलस्त्रियाँ आत्मीयजनों के साथ बैठकर वायुसेवन कर रही हैं। केवल पारसी स्त्रियाँ ही नहीं, ललाट पर सिन्दूर की बिन्दी लगाये मराठी स्त्रियाँ भी बैठी हुई हैं—चेहरे पर कैसी प्रशान्त प्रसन्नता है। अपना अस्तित्व जो एक विषम विपद है, उसे चारो तरफ की दृष्टि से किस तरह बचा रक्खा जाता है, यह भावना लेशमात्र भी उनके मन में नहीं है। मन ही मन मैंने सोचा, समूचे देश के

माथे पर से कितने बड़े संकोच का बोझ उतर गया है और उससे यहाँ की जीवन-यात्रा हम लोगों की अपेक्षा किस हद तक सहज और सुन्दर बन गयी है। पृथ्वी की मुक्त वायु और प्रकाश में संचरण करने के सहज अधिकार को लोप कर देने से, मनुष्य स्वयं ही अपने लिए कैसा एक स्वाभाविक विघ्न बन जाता है, वह हमारी स्त्रियों की सर्वदा ससंकोच असहायता देखने से समझ में आ जाता है। रेलवे-स्टेशनों पर हमारी स्त्रियों को देखने से उनके प्रति समस्त देश की बहुत दिनों की निष्ठुरता प्रत्यक्ष हो उठती है। मैथरन के इस बगीचे में घूमते-घूमते अपने यहाँ के बीडन पार्क और गोलदीघी को याद करके मैंने देखा—उनमें क्या ही लक्ष्मीहीन कृपणता मौजूद है।

तितलियों के दल जब फूलों के बगीचों में मधु ढूँढते हुए घूमते-फिरते हैं तब वे बाबूगिरी करते हुए घूमते रहते हैं, ऐसी बात नहीं है, वस्तुतः वे उस समय काम में व्यस्त रहते हैं। किन्तु इसीलिए वे आफिस में जाते समय अचकन नहीं पहनते। यहाँ को जनता की वेश-भूषा में जब मैं तरह-तरह के रंगों का समावेश देख पाता हूँ तब मुझे वही बात याद पड़ जाती है। काम-काज में व्यस्त को जबर्दस्ती श्रीहीन बना देने की कोई अत्यन्त आवश्यकता है, ऐसा तो मुझे नहीं मालूम होता। इन लोगों की पगड़ियों में, किनारियों में, स्त्रियों की साड़ियों में जो रंगीन चित्र देख पाता हूँ उसमें एक जीवन का आनन्द प्रकट होता है और वह जीवन के आनन्द को जाग्रत करता है। बंग देश को पार करके उसके बाद बहुत दूर से मैं यही देखते-देखते आया हूँ। हलवाहा खेत जोत रहा है, किन्तु उसके सिर पर पगड़ी है और शरीर में मिरजाई पहने हुए है। स्त्रियों की तो कोई बात ही नहीं है। हम लोगों के साथ यहाँ के बाहर का यह प्रभेद मेरे लिए साधारण सा

नहीं जान पड़ा। क्योंकि, इसी प्रभेद का सहारा लेकर इन लोगों के प्रति मेरे मन में एक श्रद्धा का संचार हो गया। ये लोग अपने को अवज्ञा नहीं करते, सफाई के द्वारा इन्होंने अपने को विशिष्टता प्रदान की है। यही है मनुष्य का परस्पर के प्रति परस्पर का कर्तव्य इतना ही आवरण, इतनी ही सजावट प्रत्येक में न रहने से मनुष्य की रिक्तता अत्यन्त कुत्सित होकर दिखाई पड़ती है। अपने समाज को कुदृश्य दीनता से बचा रखने की चेष्टा यदि प्रत्येक मनुष्य न करे, तो कितनी बड़ी एक शिथिलता समूचे देश को विश्व की दृष्टि में अपमानित कर रखती है, उसे अभ्यास की जड़ता के ही कारण हम समझ नहीं सकते।

और एक बात बम्बई शहर में अत्यन्त बृहत् होकर नजर में पड़ी थी। वह थी यहाँ के देशी लोगों की धनशालीनता। कितने ही पारसी, मुसलमान और गुजराती बनियों के नाम यहाँ के बड़े-बड़े मकानों की दीवारों पर खुदे हुए मैंने देखे। इतने नाम कलकत्ते में कहीं भी नहीं दिखाई पड़ते। वहाँ का धन नौकरियों में और जमींदारियों में है। इसी कारण वह बहुत ही म्लान है। जमींदारी की सम्पद् आबद्ध जल की तरह है; वह केवल व्यवहार से क्षीण और विलास से दूषित होती रहती है। उसमें मनुष्य की शक्ति का प्रकाश मैं नहीं देखता। उसमें धनागम की नयी-नयी तरंग-लीलाएँ नहीं हैं। इसीलिए हमारे यहाँ जो कुछ धन संचय है, उसमें एक अत्यन्त भीरुता देख पाता हूँ। मारवाड़ी, पारसी, गुजराती और पंजाबियों में दान करने में मुक्तहस्तता देख पाता हूँ, किन्तु बंगदेश सर्वापेक्षा कम दान करता है। हमारे देश के चंदे के खाते हमारे देश की गायों की तरह हैं—उनके लिए चरने का स्थान नहीं है, यह हम कह सकते हैं। धन वस्तु को हमारा देश सचेतन भाव से अनुभव कर ही न सका। इसीलिए

हमारे देश की कृपणता भी भद्दी है, विलास भी वीभत्स है। यहाँ के धनियों की जीवन-यात्रा सरल है। फिर भी धन की मूर्ति उदार है, यह देखकर आनन्दबोध होता है।

३

जल-स्थल

हम जमीन पर रहनेवाले आदमी हैं, किन्तु हमारे चारों तरफ समुद्र है। जल और स्थल इन दो विरोधी शक्तियों के बीच मनुष्य रहता है, किन्तु मनुष्य के प्राणों में यह कैसा साहस है। जिस जल का आर-पार हमें नहीं दीख पड़ता, उसको भी मनुष्य ने विघ्न नहीं माना है, उसमें भी वह कूद पड़ा है।

जो जल मनुष्य का मित्र है, वह जल जमीन के ही बीच से बहता है। वे नदियाँ जमीन की बहिनों की तरह हैं। वे कितनी दूरी के पत्थर से बँधे पक्के घाटों से अपनी बगल में जल ले आती हैं। वे ही हमारी प्यास दूर करती हैं, हमारे लिए अन्न का आयोजन कर देती हैं। किन्तु, हम लोगों के साथ समुद्र का यह कैसा विषम विरोध है। उसकी अगाध जलराशि सहारा की मरुभूमि की ही तरह पिपासा से परिपूर्ण है। आश्चर्य है कि फिर भी वह मनुष्य को शान्त न कर सका। वह यमराज के नीले भैंसे की तरह केवल ही सींग ऊपर उठाकर सिर हिला रहा है, किन्तु किसी तरह भी मनुष्य को पीछे हटा सकने में समर्थ नहीं हुआ है।

पृथ्वी के ये ही दो भाग हैं—एक है आश्रय, एक है अनाश्रय। एक है स्थिर, एक है चंचल। एक है शान्त, एक है भीषण। पृथ्वी की जो सन्तान साहसपूर्वक इन दोनों को ग्रहण कर सकी है, उसी ने तो पृथ्वी की पूरी सम्पद प्राप्त कर ली है। विघ्न के सामने जिसने सिर झुका लिया है, भय के सामने जो कोर काट-

कर चल पड़ा है, वह लक्ष्मी को प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए हमारी पौराणिक कथाओं में है, चंचल लक्ष्मी चंचल समुद्र से निकली हैं, उन्होंने हमारी स्थिर मिट्टी में जन्म ग्रहण नहीं किया है।

वीर को वे आश्रय देंगी, लक्ष्मी की यही प्रतिज्ञा है। इसीलिए मनुष्यों के सामने उन्होंने प्रकाण्ड भय की तरंगें फैला दी हैं। पार हो सकने के बाद ही वे दर्शन देंगी। जो लोग किनारे बैठकर कल-शब्द सुनकर सो रहे हैं जिन्होंने पतवार नहीं पकड़ी, पाल को खोल नहीं दिया जो पार करके नहीं गये, वे लोग पृथ्वी के ऐश्वर्य से वञ्चित हो गये।

हम लोगों का जहाज जब नील समुद्र के क्रुद्ध हृदय को फेनिल बनाकरगर्व के साथ पश्चिमी दिगन्त की कूलहीनता की तरफ अग्रसर होने लगा तब यही बात मैं सोचने लगा। स्पष्ट रूप से ही मैंने देख लिया कि यूरोपीय जातियों ने जिस दिन समुद्र को वरण कर लिया, उसी दिन उन्होंने लक्ष्मी को वरण कर लिया। और जो लोग मिट्टी को दाँतों से पकड़ कर पड़े रहे, वे और अग्रसर नहीं हुए, एक स्थान पर आकर रुक गये।

मिट्टी तो बाँध रखती है। वह अति स्नेहशीला माता की तरह सन्तान को किसी तरह दूर नहीं जाने देती। साग-भात, तरकारी भाजी के साथ भरपेट खिलाती है, उसके बाद घनी छाया के नीचे श्यामल अंचल पर सुला देती है। लड़का यदि जरा घर से बाहर जाना चाहता है तो उसको कुघड़ी, कुयात्रा आदि हौओं का डर दिखाकर शान्त कर रखती है।

किन्तु मनुष्य को तो दूर जाना पड़ता है। मनुष्य का मन इतना बड़ा है कि केवल पास रहने से उसका चलना-फिरना बाधा प्राप्त होता है। बलपूर्वक उतने में ही पकड़ रखने से उसका बहुत कुछ छूट जाता है। मनुष्यों में जो लोग दूर जा सके हैं,

वे ही अपने आपको परिपूर्ण बना सके हैं। समुद्र ही है मनुष्य का सम्मुखवर्ती वह अति दूर का रास्ता; दुर्लभ की तरफ, दुःसाध्य की तरफ वही तो केवल हाथ उठाकर पुकार रहा है। वह पुकार सुनकर जिनका मन उबल उठा, जो लोग बाहर निकल पड़े उन्होंने ही पृथ्वी को जीत लिया। नीलाम्बु राशि में कृष्ण की बंसी बज रही है, कुल छोड़कर बाहर निकल पड़ने के लिए यह पुकार है।

एक तरफ पृथ्वी का चेहरा समाप्ति का है, और दूसरी तरफ असमाप्ति का है। तीर-भूमि तैयार हो गयी है, अब भी उसमें जो कुछ गढ़ने बनाने के काम चल रहे हैं उनकी गति मृदुमन्द है, आँखों पर पड़ती ही नहीं। तोड़ने-गढ़ने का भी प्रधान कारीगर जल है। और समुद्र के गर्भ में अभी तक सृष्टि का काम समाप्त नहीं हुआ है। जो सब नद-नदियाँ समुद्र की मजदूरी करती हैं वे दूर दूरान्तरों से टोकरियों में भरकर कीचड़-मिट्टी माथे पर ढोकर ला रही हैं और कितने ही लाख घोंघे, सितुहे, प्रवालकीट इस राजमिस्त्री की सृष्टि के उपकरण दिन-रात जुटाते जा रहे हैं। तट भूमि की तरफ खड़ी पाई पड़ गयी है, कम से कम सेमी-कोलोन, किन्तु समुद्र की तरफ समाप्ति का चिह्न नहीं है। दिगन्त-व्यापी अनिश्चयता के चिरचञ्चल रहस्यान्धकार में क्या घटना हो रही है, इसका पता किसे मालूम है। अशान्त और अश्रान्त है यह समुद्र, अनन्त है इसका उद्यम।

संसार में जिन जातियों ने इस समुद्र को विशेष रूप से वरण किया है, उन्होंने समुद्र के इस कूलविहीन प्रयास को अपने चरित्र में प्राप्त कर लिया है। वे ही ऐसी बातें कहा करती हैं कि कोई एक चरम परिणाम मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है; केवल विश्रामहीन धावमान जाति के बीच से अपने को प्रसारित करके चलना ही जीवन का उद्देश्य है। वे अनिश्चित के बीच निर्भयता से कूदकर

केवल नयी-नयी सम्पदों को संग्रह करके लगा रहे हैं। वे किसी एक कोने में डेरा बाँधकर बैठे न रह सके। दूर उनको बुलाता है; दुर्लभ उन लोगों को आकर्षण करता रहता है। असन्तोष की लहरें दिन रात हजार-हजार हथौड़ों से पीट कर उनके चित्त में केवल ही तोड़ने-गढ़ने के काम में प्रवृत्त है, रात्रि आकर जब समस्त जगत् की पलकों को खींच देती है तब भी उनके कार-खानों के प्रदीप नेत्र पलकों को गिराना नहीं जानते। ये लोग समाप्ति को स्वीकार न करेंगे। विश्राम के साथ ही इनकी हाथाहाथी और आमने-सामने की लड़ाई है।

और तट भूमिपर जिन लोगों ने डेरे डाल दिये हैं, वे केवल यही कहते हैं, 'अब नहीं, हमें कोई जरूरत नहीं है।' वे केवल भूख के खाद्य को कम कर देना चाहते हैं यही बात नहीं, वरन् वे अपनी पूरी भूख के साथ उसे भी मारकर नष्ट कर निकाल बाहर करना चाहते हैं। उन्हें जो कुछ मिला है, उसे ही किसी तरह स्थायी करने के मतलब से केवल ही चारों तरफ सुनिश्चित का सनातन घेरा बनाते जा रहे हैं। वे लोग सिर की शपथ खाकर कह रहे हैं, "और जो भी करो, किसी तरह भी समुद्र को पार करने की चेष्टा मत करो। क्योंकि, समुद्र की हवा यदि लग जायगी, अनिश्चित का स्वाद यदि तुम पा जाओगे, तो मनुष्य के मन में असन्तोष का जो एक नशा है, उसे और कौन रोक कर रख सकेगा।" उस अपरिचित नूतन की रागिनी को लेकर काले समुद्र की बाँसुरी की पुकार किसी एक उमड़ती हुई हवा से जिस उपाय से घर में न पहुँच सके, इसी के लिए कृत्रिम दीवारों को जितनी ऊँची बना देना सम्भव है वही चेष्टा केवल चल रही है।

किन्तु, इस समुद्र और तटभूमि की स्वतन्त्रता को सम्पूर्ण स्वीकार करके उनका विरोध मिटा देने का दिन आ गया है, ऐसा

ही मेरा खयाल है। इन दोनों के मिलन से ही मनुष्य की पृथ्वी है। इन दोनों के बीच विच्छेद जगा रखने में ही मनुष्यों की सारी विपत्तियाँ हैं। तो फिर इतने दिनों से यह विच्छेद चला आ रहा है क्यों। हर-गौरी की तरह तपस्या के द्वारा ये केवल परस्पर को पा जायँगे इसीलिए यह हो रहा है। वही तो एक तरफ स्थाणु दिगम्बर वेश में समाधिस्थ होकर बैठे हुए हैं और एक तरफ गौरी नव-नव वसन्त पुष्पों से अपने को सजाती जा रही हैं। स्वर्ग के देवता लोग इनके ही शुभ योग की प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं, नहीं तो कोई मङ्गल परिणाम उत्पन्न न होगा।

हम तटभूमि के लोगों ने भगवान की समाप्ति की बात को सत्य कहकर आश्रय कर लिया है। इससे हानि नहीं होती, किन्तु हमने उनकी व्याप्ति की बात को बिलकुल ही झूठ कहकर, माया कहकर उड़ा देना चाहा है। सत्य को एक अंश से झूठ कह देने से ही उसके दूसरे अंश को भी झूठ बना देना होता है। हमने स्थिति को, आनन्द को मान लिया है, किन्तु शक्ति को दुःख को हमने नहीं माना है। इसीलिए रानी का अपमान करने से राजा की स्तुति करके भी हमें रक्षा नहीं मिली है। सत्य हम लोगों को सैकड़ों-सैकड़ों वर्षों से लगातार तरह-तरह के आघातों से मार रहे हैं।

समुद्र के लोग भगवान् की व्याप्ति के ही अंग को बिलकुल एकान्त सत्य मानकर पकड़े हुए बैठे हैं! वे लोग समाप्ति को किसी तरह भी न मानेंगे यही उनकी प्रतिज्ञा है। इसीलिए बाहर की तरफ लोग जैसे केवल ही संग्रह कर रहे हैं, फिर भी संतोष न रहने के कारण कुछ भी नहीं पा रहे हैं, वैसे ही तत्त्व ज्ञान के पहलू पर भी उन लोगों ने यह कहना शुरू किया है कि सत्य के बीच जन्म स्थान नामक कोई भी पदार्थ नहीं है, हैं केवल

गमन। केवल ही हो जाना किन्तु वह हो जाना क्या है उसका कोई ठिकाना किसी जगह भी नहीं है। यह एक ऐसे समुद्र की तरह है जिसका कूल भी नहीं है, तल भी नहीं है, हैं केवल तरंगे—जो प्यास भी नहीं मिटातीं, फसल भी पैदा नहीं करतीं केवल झुलती रहती हैं।

हम लोगों ने देखा आनन्द को; और दुःख को हमने कहा मिथ्या माया; उन लोगों ने देखा दुःख को और आनन्द को कहा मिथ्या माया, किन्तु परिपूर्ण सत्य में तो कोई भी छूट नहीं सकता; पूर्व पश्चिम वहाँ न मिलने से पूर्व भी मिथ्या हो जाता है, पश्चिम भी मिथ्या होता है, 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' – अर्थात् आनन्द से ही यह सब कुछ उत्पन्न हो रहा है, यह जिस तरह सत्य है 'स तपोऽतप्यत'—अर्थात् तपस्या से दुःख से ही सब कुछ उत्पन्न हो रहा है, यह बात वैसे ही सत्य है। गायक के चित्त में देश-काल के अतीत गान का पूर्ण आनन्द भी जैसा सच है, फिर देश-काल के भीतर से गान गाकर प्रकट करने की वेदना भी वैसी ही सच है। इस आनन्द और दुःख को, इस समाप्ति और व्याप्ति को इस चिर पुरातन और चिर नूतन को इस धन-धान्य पूर्ण भूमि और दुखाश्रु चञ्चल समुद्र को एक साथ मिलाकर स्वीकार करना ही सत्य को स्वीकार करना है।

इसीलिए देख रहा हूँ, जो लोग चरम को न मानकर केवल विकाश को ही मान रहे हैं, वे उन्मत्त होकर उठ रहे हैं और अपघात मृत्यु की तरफ दौड़ते जा रहे हैं, पग-पग पर ही उनका जहाज केवल आकस्मिक विप्लव के नकली पहाड़ के ऊपर जाकर टकरा रहा है, और जो लोग विकाश को मिथ्या कहकर केवल चरम को ही मान लेना चाहते हैं, वे निर्वीर्य और जीर्ण होकर एक शय्या पर पड़ कर अभिभूत होकर मर रहे हैं।

किन्तु चलते-चलते एक दिन तट भूमि की वह गाड़ी और समुद्र का जहाज जब एक ही बन्दरगाह पर जा पहुँचेंगे, और दोनों पक्षों की ओर से व्यापारिक वस्तुओं का विनिमय होने लगेगा तभी दोनों बच जायँगे। नहीं तो, केवल अपनी व्यापारिक वस्तुओं से कोई अपना दारिद्र्य दूर नहीं कर सकता। विनिमय न कर सकने से वाणिज्य नहीं चलता और वाणिज्य न चलने से लक्ष्मी का दर्शन नहीं मिलता।

इस वाणिज्य के योग से ही मनुष्य परस्पर मिलेंगे, इसी कारण संसार का ऐश्वर्य सब दिशाओं में विभक्त हो गया है। एक दिन जीवराज्य में स्त्री-पुरुष का विभाग हो जाने से ही जिस तरह देखते-देखते विचित्र सुख-दुखों के भीतर से प्राणियों की प्राणसम्पद ने आज आश्चर्यजनक रूप से उत्कर्ष प्राप्त किया है, उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति भी, किसी ने स्थिति का किसी ने गति का विशेष रूप से आश्रय लिया है इस कारण ही आज हम लोग एक ऐसे मिलन की आशा कर रहे हैं, जो मनुष्य की सभ्यता को विचित्र रूप से सार्थक बना देगा।

४

समुद्र पार करना

बन्दरगाह को पार कर मैं जहाज पर चढ़ गया। और भी अनेक बार मैं जहाज पर चढ़ चुका हूँ। प्रति बार ही पहले-पहल मन में एक तरह का संकोच उपस्थित होता है। वह संकोच अपरिचित स्थान में अपरिचित मनुष्यों के बीच प्रवेश करने का संकोच नहीं है। जहाज के साथ अपने जीवन का विच्छेद मैं अत्यन्त अधिक रूप में अनुभव करता हूँ। इस जहाज को जिन्होंने बनाया है, जो लोग चला रहे हैं, वे ही इस जहाज के मालिक हैं—मैं रुपये देकर टिकट खरीद कर यहाँ स्थान पा गया हूँ। इस समुद्र के चिह्नहीन रास्ते के ऊपर से कितने ही वंशों के क्रम से इनके कितने नाविक अपने जीवन की अदृश्य रेखा रख गये हैं; बारम्बार कितनी ही सैकड़ों मृत्युओं के द्वारा, बाद को यह रास्ता धीरे-धीरे सहज हो उठा है। मैं जो आज इस जहाज में दिन के समय निर्भय होकर आहार-विहार कर रहा हूँ और रात के समय निश्चिन्त मन से सो रहा हूँ, यह निर्भयता क्या केवल रुपये से खरीदने की चीज है। इसके पीछे तहतह पर कितनी ही चिन्ताओं, कितने ही साहसों का संचय खूब ऊँचा बना हुआ है; वहाँ हम लोगों को कोई अर्घ्य जमा नहीं हुआ है।

जब इन अंग्रेज स्त्री-पुरुषों को मैं देखने लगता हूँ, वे डेक पर खेल रहे हैं, सो रहे हैं, हास्यालाप कर रहे हैं तब मैं देख पाता हूँ—ये लोग तो केवलमात्र जहाज के ही ऊपर नहीं हैं, ये लोग स्वजाति की शक्ति के ऊपर निर्भर करके टिके हुए हैं।

ये लोग अवश्य ही जानते हैं, जो करना है, वह कर लिया गया है और जो करना है वह किया जायगा, इसके लिए इनकी समूची जाति जामिन पड़ी हुई है। यदि प्राण संकट उपस्थित होगा तो केवल जो कप्तान है, वही नहीं, इन लोगों की समूची जाति का प्रकृतिगत उद्यम और आलस्यविहीन सतर्कता अन्तिम क्षण तक लड़ाई करने के लिए तैयार खड़ी है। ये लोग उस दृढ़ क्षेत्र के ऊपर ऐसे प्रफुल्ल मुख से प्रसन्न चित्त से संचरण कर रहे हैं, चारों तरफ की तरंगों की ओर भ्रूक्षेप भी नहीं कर रहे हैं। इस जगह इन लोगों ने अपना जो कुछ दिया है वही वे पा रहे हैं—और हम लोगों ने जो नहीं दिया है, उसे ही हम ले रहे हैं; इसलिए समुद्र पार होते-होते हम देना रखकर जा रहे हैं। इसीलिए जहाज में डेक के ऊपर अंग्रेज यात्रियों के साथ एक साथ मिलकर बैठने में मेरे मन से किसी तरह भी संकोच दूर नहीं होना चाहता।

तट भूमि पर बैठकर हम अनेक विलायती वस्तुएँ व्यवहार में लाते हैं, इसके लिए मन में कोई बहुत दैन्य नहीं मालूम होता। जहाज पर हम लोग मानो कुछ और अधिक ले रहे हैं। यह तो केवल कल-कारखाना नहीं है, साथ ही साथ मनुष्य भी हैं। जहाज जो लोग चला रहे हैं वे लोग अपना साहस देकर, शक्ति देकर पार कर रहे हैं। उन लोगों के जिस मनुष्यत्व के ऊपर हम निर्भर किये हुए हैं, अपने अन्दर उसका ही यदि कोई परिचय रहता, तो जिन रुपयों से मैंने टिकट खरीद लिया है उनकी झनझनाहट के साथ दूसरे मूल्य की आवाज भी मिली हुई रहती। आज मन में यही एक बड़ी वेदना बज उठती है कि वे लोग प्राण देकर चला रहे हैं और हम लोग रुपये देकर चल रहे हैं, इसके बीच जो एक प्रकाण्ड समुद्र पड़ा रहा, उसे हम कब किस समय पार कर सकेंगे। अभी तो आरम्भ भी नहीं किया गया है, अभी

अकातर भाव से कितना प्राण देना बाकी रह गया है, अब भी कितने बन्धन काटने पड़ेंगे, कितने संस्कारों को रौंद देना पड़ेगा—उस बात को जब सोचने लगता हूँ तब समझ सकता हूँ. आज कुछ इने-गिने अखबारों की नावें बनाकर उसके ही खिलौने के पाल पर हम लोग जिस भविष्य का फूँक मार रहे हैं, उससे हम लोगों का कुछ भी न होगा।

कूल किनारे के बन्धनों को पार करके बिलकुल ही नील सागर के बीच पहुँच गया हूँ। यह भय था कि थल का जीव समुद्र का झूला सह न सकेगा—किन्तु अरब सागर में अभी तक मानसून का झकझोर शुरू नहीं हुआ है। किन्तु चंचलता नहीं है, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि पश्चिम की आनेवाली हवा बह रही है, जहाज के मुँह पर तरंगों के आघात लग रहे हैं, किन्तु अभी तक मेरे शरीर के अन्तर्विभाग में वह कोई आन्दोलन उपस्थित न कर सका है। इसीलिए समुद्र के साथ मेरा प्रथम सम्भाषण प्रेम सम्भाषण से ही शुरू हो गया है। महासागर ने कवि के कवित्व मन्त्र को झकझोर कर समाप्त नहीं कर दिया है, वे जिस रूप से मृदंग बजा रहे हैं उसके साथ मेरे रक्त का नाच दिव्य ताल रख कर चलने में समर्थ हो रहा है। यदि हठात् खयाल चला जाय और एक बार वे अपने हजार उद्यत हाथों से ताण्डव नृत्य की रुद्र बोली बजाने लगेंगे, तो उस हालत में मैं सिर ऊपर न उठा सकूँगा, किन्तु मन का भाव देखने से मालूम हो रहा है, भीरु भक्त के ऊपर इस बार की यात्रा में वे अपने अट्टहास्य का तुमुल परिहास का प्रयोग न कर सकेंगे।

इसीलिए जहाज के रेलिंग पकड़ कर जहाज की तरफ ताकते रहने में मेरे दिन बीत रहे हैं। शुक्ल पक्ष के अन्तिम भाग में हमारी यात्रा आरम्भ हुई है। जैसा समुद्र है, वैसी ही समुद्र के ऊपर

की रात्रि है; स्थिर होकर खड़े रहकर दोनों अन्तहीन का सुन्दर मिलन देखता रहता हूँ; स्तब्ध के साथ चंचल का, नीरव के साथ मुखर का दिगन्तव्यापी आलाप चुपचाप सुन लेता हूँ। जहाज के दोनों तरफ उज्ज्वलन्त फेन राशि कटकट कर गिर रही है, उसकी भंगी मुझे देखने में बहुत अच्छी लगती है। ठीक मालूम होता है मानो जहाज को, फूल के बीजकोष की तरह बनाकर उसके दोनों तरफ सफेद पंखुड़ियाँ क्षण-क्षण विकसित होकर निखरती जा रही है।

निस्तब्ध रात्रि में मेरे सामने इस महायुद्ध की सुगंभीर काल-लीला है, और पीछे मेरे इस जहाज के यात्रियों का अविश्राम हास्यालाप आमोद-आह्लाद है। जितनी बार मैं जहाज में आया हूं, प्रतिबार ही मुझे यह बात याद पड़ी है कि, हमारे छोटे से जीवन के चारो तरफ ही, जो एक अक्षुब्ध अनन्त मौजूद हैं, उनकी तरफ इन यात्रियों को एक क्षण भी ताकने का अवकाश नहीं है। जीवन के प्रति इन लोगों की आसक्ति इतनी अधिक है कि, जीवन के गम्भीर सत्य की उपलब्धि करने के लिए उसके पास से जितती दूर जाना आवश्यक है, ये लोग एक क्षण के लिए भी उतनी दूर नहीं जा सकते। इस कारण इन लोगों की धर्मोपासना मानो एक विशेष आयोजन की बात है, अपने को मानो एक स्थान से विशेष रूप से विछिन्न करके क्षण काल के लिए किसी दूसरी जगह ले जाना पड़ता है। यह जहाज यदि भारतवासी यात्रियों का जहाज होता, तो उस हालत में दिन के सभी काम-काज, आमोद-आह्लाद के अत्यन्त मध्यस्थल में ही मैं देख लेता कि मनुष्य निःसंकोच अनन्त को हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा है; समस्त हँसी-गल्पों के बीच बीच ही अत्यन्त सहजही धर्म संगीत ध्वनित हो उठता। ससीम के साथ

असीम, जीव के साथ शिव तो बिलकुल ही मिले हुए हैं। दोनों के सहयोग से ही जो सत्य सर्वत्र परिपूर्ण है, यह चिन्ता हमारे चित्त में इतनी सहज बनी हुई है कि, इस सम्बन्ध में हमारे मन में कोई संकोच मात्र भी नहीं है। किन्तु ये अंग्रेज यात्री अपने हास्यालाप के किसी एक छेद में धर्म संगीत गा रहे हैं, यह बात मैं सोच भी नहीं सकता और यदि ये लोग डेक के ऊपर जुआ खेलते-खेलते हठात् किसी समय नजर उठाकर यह देख लेगें कि, इनके स्वजातियों में से कोई कुर्सी पर बैठकर उपासना कर रहा है तो अवश्य ही वे उसे पागल समझने लगेगें और सभी मन ही मन विरक्त हो उठेंगे। इसीलिए इन लोगों के जीवन में मैं आध्यामिक सचेतना की एक सहज सुनम्र श्री नहीं देख पाता—इनके काम-काज हास्यालाप में केवल एक ही तरफ सटी हुई एक तीव्रता दिखाई पड़ती है।

इस जहाज में क्या ही आश्चर्यजनक आयोजन है। यही जो जहाज देश काल के साथ प्रतिक्षण लड़ाई करते-करते जा रहा है, उसका समस्त रहस्य हमें गोचर नहीं है। उसका लौह-कठिन हृतपिण्ड ऊपर उठ रहा है, नीचे गिर रहा है, दिन-रात उसी धुक्-धुकी का अनुभव मैं कर रहा हूँ। जहाँ पर उसका जठरानल जल रहा है और उसकी नाड़ियों में उत्तप्त बाष्प का वेग आलोड़ित होकर उठ रहा है, वहाँ की प्रचण्ड शक्ति का समस्त उद्योग हमारी दृष्टि की ओट में पड़ा हुआ है। हमारे ऊपरी तल पर इस प्रचुर अवकाश और आलस्य के बीच-बीच घंटा ध्वनि स्नानाहार के समय की सूचना दे रही है। यही जो डेढ़ सौ दो सौ यात्रियों के आहार-विहार का आयोजन है--यह कहाँ हो रहा है यही बात मैं सोचता हूँ। वह भी दृष्टि के ओट में है। उसका भी शब्द मात्र मैं नहीं सुन पाता, उसकी गन्ध मात्र भी नहीं पाता। आहार

के टेबिल पर जब मैं जाकर बैठ जाता हूँ, समस्त सुसज्जित प्रस्तुत पाता हूँ ! भोज्य सामग्री के परोसने की धारा मानो नदी के प्रवाह की तरह अनायास चलती रहती है ।

इसमें जो बात विशेष रूप से सोचने की है, वह यह है कि, ये लोग लेश मात्र असुविधा को भी मान लेना नहीं चाहते, इतने बड़े एक समुद्र को पार करना है—यदि आहार की कुछ खींचा-तानी ही हो जाय, या जैसे-तैसे मामूली तौर से काम पूरा कर लिया जाय तो हर्ज ही क्या है ! किन्तु यह बात नहीं है, ये लोग किसी आपत्ति को ही आपत्ति न मानेंगे, ये लोग सभी अवस्थाओं में अपनी सभी तरह की माँगो को सर्वोच्च सीमा पर खींच रखना चाहते हैं। उसका फल यह होता है कि, अन्त में वह असम्भव माँग भी पूरी हो जाती है। माँग पेश करने का साहस जिनमें नहीं है, वे ही किसी तरह अभाव के साथ समझौता करके दिन बिताते हैं—वे ही कहा करते हैं, अर्धं त्यजति पण्डितः। उससे होता यह है कि, उस अर्ध के बीच से भी केवल आधा बाकी रह जाता है और पण्डित अपने पाण्डित्य के ही बीच क्रमागत रूप से चौपट होते रहते हैं।

किन्तु सारी सुविधाएँ ही ले लूँगा, इस माँग को लेकर बैठे रहने से क्या ही प्रकांड बोझ ढोना पड़ता है ! प्रत्येक साधारण आराम की व्यवस्था कितनी बड़ी जगह को छेंक लेती है ! यह बोझ ढोने की शक्ति इन लोगों में है, वहाँ ये लोग जरा भी कुंठित नहीं हैं। इस उपलक्ष्य में मुझे याद पड़ती है, हमारे विद्यालय की व्यवस्था। वहाँ भी दो सौ आदमियों के लिए चार वक्तों का भोजन जुटाना पड़ता है। किन्तु, प्रयास की सीमा नहीं है, भोर में चार बजे से रात के चार बजे तक बुलाहट-पुकार का अन्त मुझे नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी, इसमें नितान्त आवश्यक

के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, यह कहने से अत्युक्ति न होगी।

आयोजन का भार यथासाध्य कम कर दिया गया है, कूड़ा-करकट का भार जरा-सा भी नहीं घटता! गड़बड़ी बढ़ने लगती है, मैल जमता रहता है भात के फेन को तरकारी के छिलके को और जूठन को लेकर क्या करना चाहिये यह समझ में नहीं आता! धीरे-धीरे इस सम्बन्ध में चिन्ता छोड़कर जड़ प्रकृति पर निर्भर करके किसी तरह दिन बिताये जाते हैं। यह बात किसी तरह भी हम जोर लगा कर नहीं कह सकते कि, यह किसी तरह भी न चलेगा। क्योंकि, यह कह देने से ही बोझ ढोना पड़ता है। अन्त में मूल में जाकर हम देख लेते हैं कि उस बोझ को ढोने की आशा और शक्ति हम लोगों में नहीं है; इसीलिए हम केवल दुःख और असुविधाएँ ढोते रहते हैं, किन्तु दायित्व को ढोना नहीं चाहते।

एक उच्चपदस्थ रेलवे इंजीनियर हम लोगों के साथ यात्रा कर रहे थे। वे मुझसे कह रहे थे, "ताला चाभी आदि तरह-तरह की छोटी-मोटी आवश्यक चीजें रेलवे विभाग के लिए इसी देश में संग्रह करने की मैंने बहुत चेष्टा की। किन्तु बराबर देख रहा हूँ कि, इनका मूल्य यहाँ अधिक है साथ ही यहाँ की ये चीजें भी वैसी अच्छी नहीं है।" इधर व्यापारिक वस्तुओं का दाम और वेतन का परिमाण बढ़ता ही चला जा रहा है, फिर भी यहाँ जो सब चीजें तैयार हो रही हैं, वे संसार के बाजार भाव के सामने समता रखकर चलने में असमर्थ हो रही हैं। उन्होंने कहा कि यूरोपीय संचालकत्व में इस देश में जो सब कारखाने चल रहे थे, उनका प्रभाव इस देश के लोगों पर बहुत ही कम है और देशीय लोगों के संचालकत्व में जहाँ काम चलता है, वहाँ मैं यही देख पाता हूँ कि, पूरा काम हो नहीं

पाता—मनुष्य में जितनी शक्ति है, उसका अधिकांश ही उपयोग में लाने का मानो तेज ही नहीं है। इसीलिए मजदूरी का परिमाण थोड़ा होते हुए भी मूल्य कम होना नहीं चाहता। क्योंकि जितने मनुष्य परिश्रम कर रहे हैं, शक्ति उतनी मिहनत नहीं कर रही है।

यह बात सुनने में अप्रिय मालूम होती है, किन्तु देश की तरफ नजर उठाकर देखने से सर्वत्र ही यही ब त दृष्टिगोचर होती है। हमारे देश में सभी काम ही दुःसाध्य हो उठते हैं, इसका एक मात्र कारण है कि सोलहो आने मनुष्यों को हम नहीं पाते। उसी कारण हमें ज्यादा आदमियों को लेकर कारबार करना पड़ता है, फिर भी ज्यादा आदमियों को ठीक व्यवस्था के अनुसार चलाना और उनका पेट भर देना, शक्ति के अतीत है। इसीलिए काम की अपेक्षा काम का उपद्रव अनेक गुना अधिक हो उठता है, आयोजन की अपेक्षा कूड़ाकरट ही बढ़ जाता है और नाव में छेद क्रमशः इतना दिखाई पड़ता है कि, डाँड़ चलाने की अपेक्षा जल फेंकने में ही अधिक शक्ति खर्च करनी पड़ती है। हमारे देश में जिस किसी ने जिस किसी काम में हाथ डाला है, उसको यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

मैंने उस इंजीनियर से कहा,—"तुम्हारे देश में संयुक्त कारबार और कल-कारखानों के ही गुणों से क्या चीजों का दाम कम नहीं हो रहा है।" उन्होंने कहा—"यह हो सकता है, किन्तु किसी देश में सम्मिलित कारोबार पहले चलता है और उन्नति उसके बाद होता है, ऐसी बात नहीं कही जा सकती। मनुष्य जब सम्मिलित कारोबार में मिलने के उपयुक्त हो जाते हैं तभी सम्मिलित कारोबार आप ही आप चलने लगता है।" उन्होंने कहा—"मैं मद्रास की तरफ दक्षिण भारत

में अनेक देशी संयुक्त कारबारों की उत्पत्ति और उनकी विलुप्ति देख चुका हूँ। मैं देख पाता हूँ, अनुष्ठान के प्रति जो भक्ति अर्थात् जिस निष्ठा और श्रद्धा की आवश्यकता चाहिये वह किसी में नहीं है, प्रत्येक ही स्वतन्त्र रूप से अपनी ही तरफ ताकते हैं। इससे कभी किसी चीज को वे बाँध नहीं सकते। यह दृढ़निष्ठ प्राणपण लायलटी यदि जातीय चरित्र में संचारित हो जाती है तब सभी सम्मिलित अनुष्ठान सम्भव होते हैं।"

यह बात मेरे मन में लग गयी। अनुष्ठान के द्वारा मंगलसाधन किया जाता है, यह बात सच नहीं है—जड़ में ही मनुष्य है, हमारे देश में एक मनुष्य का सहारा लेकर एक-एक काम जाग उठता है; उसके बाद उस काम को जो लोग ग्रहण करते हैं वे उसका जितना आश्रय करते हैं, उतना आश्रय नहीं देते। क्योंकि, वे लोग काम की तरफ उस प्रकार नहीं ताकते जिस प्रकार वे अपनी तरफ ताकते हैं। बात-बात में उन लोगों की मुट्ठियाँ ढीली हो जाती हैं, वे बाधा को अतिक्रम करने की चेष्टा न करके बाधा को त्याग कर भाग जाना चाहते हैं, और केवल यही सोचते रहते हैं, इसकी अपेक्षा और किसी तरह की व्यवस्था रहने से इसकी अपेक्षा और भी अच्छा फल मिल जाता। इस प्रकार वे विच्छिन्न हो जाते हैं, एक से पाँच टुकड़े बन जाते हैं और पाँचो ही व्यर्थ हो जाते हैं। भले बुरे को बाधा-विपत्तियों को, सभी को वीर की भाँति स्वीकार करके आरम्भ किये गये काम को एकान्त लायलटी के साथ अन्त तक ढोते जाने का अध्यवसाय जितने दिन हमारे सर्वसाधारण के चित्त में न जागेगा उतने दिन सम्मिलित हितानुष्ठान और सम्मिलित व्यापार हमारे देश में बिलकुल ही असम्भव हो जायगा।

यह लायलटी बुद्धिगत नहीं है, यह हृदयगत, जीवनगत

है। समस्त अपूर्णताओं के बीच से मनुष्य अपने को किस जोर से वहन करता है। एक जीवन के गम्भीर आकर्षण से। लाभ-नुकसान का सारा हिसाब उसी जीवन के खिंचाव के सामने लघु है। ऐसा यदि नहीं होता तो बात-बात में मामूली कारणों से साधारण हानि से साधारण असन्तोष से मनुष्य आत्महत्या करके भी छुटकारा पा जाता। इसी प्रकार जिस काम में हम लोगों ने जीवन को नियुक्त किया है, उसके प्रति यदि हम लोगों की जीवनगत निष्ठा न रहे, उसके प्रति यदि हम लोगों का बेहिसाबी आकर्षण न रहे, उसके प्रति अपराहत श्रद्धा लेकर हम यदि पराभव के दल में खड़े भी न हो सकें, यदि मृत्यु के मुख में भी उसकी जय-पताका को सबसे ऊँचाई पर उठाकर पकड़ने का बल न पा जायँ, यदि अभिमन्यु की भाँति व्यूह के बीच से निकल जाने की विद्या को हम लोग एकदम अग्राह्य न कर दें, तो उस हालत में हम कुछ भी पैदा न कर सकेंगे, रक्षा भी न कर सकेंगे। "यह हम लोगों का है। इसलिए यह मेरा ही है" इस बात को अन्त तक सब लाभ-नुकसान सब हार-जीत के बीच जीजान से कहने की शक्ति हम में होनी चाहिये। उसके बाद जिस किसी अनुष्ठान का ही आश्रय हम क्यों न लें, एक दिन न एक दिन विघ्न-समुद्र को हम पार कर सकेंगे।

निरतिशय कर्मों के प्रयास से यूरोप का जीवन जीर्ण होता जा रहा है, आज-कल पश्चिमीय देशों में भी यह बात सुनी जाती है, और यह बात बिलकुल झूठी भी नहीं है। मैंने पहले ही कहा है, यूरोप किसी अभाव, किसी असुविधा को जरा भी न मानेगा, यही है उसकी प्रतिज्ञा। अपनी शक्ति के ऊपर उसका अक्षुण्ण विश्वास है। उस विश्वास के रहने से ही उसकी शक्ति पूर्ण गौरव के साथ काम रही है और असाध्य साधन करती आ रही है। किन्तु, तो

भी शक्ति की एक सीमा है। दीया भी खूब बड़ा बनाकर जलाऊँगा और बत्ती भी न जलने दूँगा। यह तो किसी तरह भी नहीं हो सकता।

इसीलिए पश्चिमीय देशों में जीवन-यात्रा की मांग जितनी ही बढ़ती जा रही है, दूसरी तरफ वह उतनी ही जलाती जा रही है। आराम को सुविधा को, कहीं भी खर्च न करूँगा, प्रतिज्ञा कर बैठने से उसका बोझ केवल ही प्रकाण्ड बड़ा होता जा रहा है। यह बोझ तो किसी एक जगह में दबाव डाल रहा है। जहाँ वह दबाव पड़ रहा है, वहाँ जिस परिमाण में दुःख पैदा हो रहा है उस परिमाण में क्षतिपूर्ति नहीं हो रही है। इसीलिए भार-सामंजस्य का प्रयास आग्नेय भूकम्प के आकार में समस्त पीड़ित समाज के अन्दर से क्षण काल में सिर ऊपर उठाने की तैयारी कर रहा है। मनुष्यों की सुविधाओं को पैदा करने के लिए यंत्र केवल ही बढ़ते जा रहे हैं और मनुष्यों के स्थान को यंत्र भरते जा रहे हैं। कहाँ है इसका अन्त ? मनुष्य अपने को अपना अभाव पूरा करने का यंत्र बनाता जा रहा है—किन्तु उस अपने को वह पावेगा किस अवसर पर ? जिस तरह ही कौन हो, एक स्थान पर खड़ी पाई खींचकर उसे कह देना ही पड़ेगा, "यही रहा मेरा उपकरण, अब अपना उद्धार मुझे आप ही करना पड़ेगा। जिसकी मुझे आवश्यकता है, वह मुझे अवश्य ही जुटाना पड़ेगा, किन्तु इन सबकी मुझे जरूरत नहीं है।"

अर्थात् जब मनुष्य का उद्यम केवल लगातार चलता रहता है, तब वह एक स्थान में पहुँचकर अपने को आपही निरर्थक कर डालता है। पूर्णता का रास्ता सीधा रास्ता नहीं है। इसीलिए आज यूरोप की जो वेदना है, हम लोगों की वही वेदना कदापि नहीं है। यूरोप अपने शरीर को सम्पूर्ण बनाकर उसके अन्दर

आत्मा की प्रतिष्ठा करना चाहता है। हमारी आत्मा शरीर खोकर प्रेत की तरह पृथ्वी में निष्फल होकर घूम रही है। उस आत्मा की बाह्य प्रतिष्ठा कहाँ है? उसमें जिस ईश्वर का जो साधर्म्य है, वह अपना ऐश्वर्य विस्तार किये बिना नहीं बचता। वह तो अपने आप को विभिन्न दिशाओं में प्रकट करना चाहता है— राज्य में, वाणिज्य में समाज में, साहित्य में, धर्म में— यहाँ उस प्रकाश का उपकरण कहाँ है? उस उपकरण के प्रति उसकी प्रभुता कहाँ है? देख रहा हूँ, उसका कलेवर यदि एक स्थान पर बँध जाता है तो दूसरी जगह वह अलग हो जाता है—क्षण काल के लिए यदि वह निबिड़ होकर खड़ा होता है तो उसके बाद तुरंत ही भाप बनकर उड़ जाता है। इसीलिए आज जिस तरह ही क्यों न हो, हमें इस देहतत्व का साधन करना पड़ेगा, जिस प्रकार ही क्यों न हो, हमें यह बात समझ लेनी पड़ेगी कि, कलेवरहीन आत्मा कभी सत्य नहीं है—क्योंकि कलेवर आत्मा का ही एक अंग है। वह है गति का अंग, शक्ति का अंग मृत्यु का अंग—किन्तु उसके ही सहयोग से आत्मा की स्थिति है, आनन्द है, अमृत है। इस कलेवर सृष्टि की असम्पूर्णता से ही हमारे देश की श्रीहीन आत्मा शताब्दी के बाद शताब्दी तक हाहाकार करती हुई घूम रही है। बाहर के सत्य को दूर फेंक कर हमारी अन्तरात्मा केवल ही अबाध रूप से स्वप्न रचती जा रही है। वह अपना वजन खोती जा रही है, इसीलिए उसके अन्ध विश्वास का कोई प्रमाण नहीं है, कोई परिमाण नहीं है, इसीलिए कहीं तो सत्य को लेकर वह माया की तरह खेल रही है, कहीं तो माया को लेकर वह सत्य की तरह व्यवहार कर रही है।

अरब सागर—१७ जेठ, १३१६

५

यात्रा

एक दिन मनुष्य था जंगली, घोड़ा भी था जंगल का जानवर। मनुष्य दौड़ नहीं सकता था, घोड़ा हवा की तरह दौड़ता था। क्या ही सुन्दर थी उसकी भंगी, क्या ही निर्विघ्न थी उसकी स्वतंत्रता। मनुष्य गौर से देखता रहता था, और उससे डाह करता था। वह सोचता था, 'वैसे ही विद्युत्गामी चार पैर मेरे रहते तो उस हालत में मैं दूर को दूर नहीं मानता, देखते-देखते दिग् दिगन्तर को जीत आता।' घोड़े के सर्वाङ्ग में जो एक दौड़ने का आनन्द छन्द ताल से नृत्य करता था, उसके ही प्रति मनुष्य के मन में भारी लोभ पैदा हो गया।

किन्तु, मनुष्य केवल ही लोभ करके बैठा रहने वाला पात्र नहीं है। 'क्या करने से घोड़े की तरह चार पैर मैं पा सकूँगा' पेड़ के नीचे बैठकर वह यही बात सोचने लगा। ऐसी अद्भुत भावना भी मनुष्य के सिवा और कोई मन में नहीं रखता। "मैं दो पैर वाला सीधा जीव हूँ, चार पैरों की प्राप्ति क्या मुझे किसी तरह भी हो सकती है। इस कारण चिर दिन मैं एक-एक कदम डालकर धीरे-धीरे चलूँगा और घोड़ा तड़-तड़ करके दौड़ता हुआ चलेगा। इस विधान की अन्यथा हो ही नहीं सकती।" किन्तु मनुष्य के अशान्त मन ने इस बात को किसी तरह भी नहीं माना।

एक दिन उसने फन्दा डालकर जंगल के घोड़े को पकड़

लिया। केशर पकड़कर उसकी पीठ पर वह जा बैठा और अपने शरीर के साथ घोड़े के चार पैरों को जोड़ दिया। इन चारों पैरों को पूर्णतः अपने वश में लाने में उसको बहुत दिन लग गये हैं। वह बहुत बार गिर पड़ा है, बहुत बार मर चुका है, किन्तु किसी तरह भी रुका नहीं है। घोड़े की चाल का वेग वह डाका डाल कर ले ही लेगा, यही रही है उसकी प्रतिज्ञा। उसकी ही जीत हो गयी। मन्दगामी मनुष्य द्रुतगमन को बाँधकर अपने काम में लाने लगा।

जमीन पर चलते-चलते मनुष्य ने एक जगह आकर देखा: उसके सामने है समुद्र, अब तो आगे बढ़ने का उपाय नहीं है। नीलजल—उसका तल कहाँ है, उसका तट दिखाई नहीं पड़ता। और लाखों-लाखों लहरें तर्जनी उठाकर जमीन के मनुष्यों को भय दिखा रही हैं, कह रही हैं, 'एक कदम यदि आगे बढ़ोगे, तो मैं दिखा दूँगा, यहाँ तुम्हारी बुद्धि-शुद्धि काम न देगी।' मनुष्य किनारे बैठकर इस अकूल निषेध की तरफ ताकता रहा, किन्तु निषेध के भीतर से एक बहुत बड़ा आह्वान भी आ रहा है। तरंगे ठठाकर हँसती हुई नृत्य कर रही हैं। जमीन की मिट्टी की तरह किसी तरह भी वे बाँधकर रखी नहीं जा सकीं। देखने से मालूम होता है मानो, स्कूल के लाखों लाखों लड़कों को छुट्टी मिल गयी है—चिल्लाने से, मनमाने आमोद करके, किसी से भी उनकी आशा नहीं मिट रही है; पृथ्वी को वे मानो फुटबाल के गोले की तरह लात से मार-मारकर आकाश में उड़ा देना चाहते हैं। यह देखकर मनुष्य का मन किनारे बैठकर शान्त बना हुआ नहीं रह सकता। समुद्र की यह उन्मत्तता मनुष्य के रक्त में करताल बजाती रहती है। बाधाहीन जलराशि की इस दिगन्त व्यापी मुक्ति को मनुष्य अपना लेना चाहता है। समुद्र

के इस दूरत्वमयी आनन्द के प्रति मनुष्य लोभ करने लगा। तरंगों की ही तरह आचरण करके दिगन्त को लूट लेने के ही लिए मनुष्य की कामना है।

किन्तु ऐसी अद्भुत साध मिटेगी किस तरह। इस तट की रेखातक मनुष्य के अधिकार की सीमा है—उसे अपनी सारी इच्छाओं को इसी खड़ी पाई के पास आकर समाप्त कर देना पड़ेगा। किन्तु मनुष्य की इच्छा को जहाँ खतम करने की इच्छा की जाती है, वहाँ ही वह उच्छ्वसित हो उठती है। किसी तरह भी उसने बाधा को चरम कहकर मान लेना नहीं चाहा।

अन्त में एक दिन जंगली घोड़े की ही तरह समुद्र का फेन केशर पकड़ कर मनुष्य उसकी पीठ पर चढ़ बैठा। क्रुद्ध समुद्र ने अपनी पीठ हिला दी; कितने ही मनुष्य डूब गये, कितने मर गये, उसकी सीमा नहीं रही। अन्त में एक दिन मनुष्य ने इस अबाध्य समुद्र को भी अपने साथ जोड़ लिया। उसने एक कूल से लेकर दूसरे कूल तक अपने पूरे शरीर से मनुष्य के पैरों के पास लाकर सिर झुका लिया।

विशाल समुद्र के साथ संयुक्त मनुष्य कैसा है, आज जहाज पर चढ़कर हम यही अनुभव कर रहे हैं। हम लोग तो यही छोटे से जीव हैं, तरणी के एक छोर पर चुपचाप खड़े हैं, किन्तु दूर-दूर बहुत दूर तक सब ही मेरे साथ मिल गया है। जिस दूर की आज रेखा तक को भी मैं देख नहीं पाता उस पर भी मैं इसी जगह स्थिर खड़ा रहकर अधिकार कर चुका हूँ। जो बाधा है वही मुझे पीठपर लेकर आगे बढ़ाती जा रही है। समस्त समुद्र मेरा है, मानो मेरा ही विराट शरीर है, मानो वह मेरा फैलाया हुआ डैना है, जो कुछ हम लोगों की बाधाएँ हैं उनको ही चलने का रास्ता अपनी मुक्ति का उपाय बना लेना पड़ेगा, हम लोगों पर ईश्वर

का यही आदेश है। जिन लोगों ने इस आदेश को मान लिया है, उनको ही पृथ्वी में छूट मिली है। जिन्होंने नहीं माना है, यह पृथ्वी उन लोगों के लिए कारागार है। अपने गाँव मात्र ने उनको घेर रखा है, घर के कोने मात्र ने उन्हें बाँध रखा है, प्रति कदम रखते ही उनकी जंजीरें झन-झन करती हैं।

मन के आनन्द से जा रहा हूँ। मुझे भय था, समुद्र का झूला मेरा शरीर न सहेगा। वह भय दूर हो गया है। जो थोड़ी सी हिलना लग रहा है उससे चोट नहीं लग रही है, मानो वह आदर कर रहा है। समुद्र मुझे गोद में ढोकर ले जा रहा है—रोगी बालक को उसके पिता जिस तरह ले जाता है वैसी ही सतर्कता से। इसीलिए इसमात्रा में अभीतक मुझे चलने की कोई पीड़ा नहीं है, चलने का आनन्द ही मैं भोग रहा हूँ।

केवल मात्र चलने का यह आनन्द पाने के ही लिए मैं बाहर निकला हूँ। अनेक दिनों से यह चलने का, यह बाहर निकल पड़ने का एक वेग मुझे उतावला बनाता जा रहा था। अनेक दिन अपने आश्रम के मकान में, दुमंजिले के बरामदे में अकेले बैठकर जब अपने सामने के शाल वृक्षों के ऊपर आकाश की तरफ मैंने नजर उठायी है, तब उसी आकाश ने दूर की तरफ अपनी तर्जनी बढ़ाकर मुझे संकेत किया है। यद्यपि वह आकाश नीरव रहता है तो भी देश-देशान्तरों के गिरि नदी अरण्य के आह्वान ने कितने ही दिग दिगन्तरों से उच्छ्वसित हो जाने पर इस आकाश की नीलिमा को परिपूर्ण बना दिया है। निःशब्द आकाश बहुत दूर की उन मर्मर ध्वनियों को, उन सब कल गुंजनों को मेरे पास ढोकर लाता था। मुझको केवल ही कहता था, 'चलो चलो, बाहर निकल आओ।' वह किसी प्रयोजन का चलना नहीं था, चलने के आनन्द से ही चलना था।

प्राण आपही आप चलना चाहता है, यही है उसका धर्म। न चलने से वह मृत्यु पर जा कर टकराता है। इसीलिए तरह तरह की आवश्यकताओं और खेलों के बहाने वह केवल चलता है। पद्मा की रेती पर शरत् काल में तो बतख का दल तुमने देखा है। वे किस दुर्गम हिमालय के शिखर वेष्टित निर्जन सरोवर तट के घोंसले छोड़कर लगातार कितने दिन-रातो में उड़ते-उड़ते इस पद्मा के बालू तट के ऊपर आ गये हैं। जाड़े के दिनों में भाप से बर्फ से भीषण हो उठने पर हिमालय उन्हें खदेड़ने लगता है—वे घर बदलने के लिए चल पड़ते हैं। इसलिए उनको दक्षिण के पथ की यात्रा करने का प्रयोजन जरूर रहता है। किंतु तो भी उस प्रयोजन से अधिक और एक चीज है। यह जो बहुत दूर की गिरि-नदियों को पार करके उड़ जाना है, उससे इन पक्षियों के हृदय के प्राणों का वेग आनन्द लाभ करता है। क्षण क्षण में डेरा बदल देने की पुकार पड़ती है, तभी सारा जीवन हिलडोल कर अपने आप ही अनुभव करने का सुयोग पाता है।

मेरे अन्दर भी डेरा बदलने की पुकार उठी थी। जिस घेरे में बैठा हूँ, वहाँ से किसी दूसरी जगह जाना पड़ेगा। चलो, चलो, चलो झरने की तरह चलो, समुद्र की लहरों की तरह चलो, प्रभात के पक्षियों की तरह चलो, अरुणोदय के प्रकाश की तरह चलो। इसीलिए तो पृथ्वी ऐसी बड़ी है, जगत् ऐसा विचित्र है आकाश ऐसा असीम है। इसीलिए तो विश्व को व्याप्त करके अणु परमाणु नृत्य कर रहे हैं और अगण्य नक्षत्रलोक अपने अपने आलोक का शिविर लिये मैदान विहारी बेदुइनों की तरह आकाश के भीतर से कहाँ चले जा रहे हैं, इसका ठिकाना नहीं है। चिरकाल की तरह किसी एक जगह में डेरा डालकर बैठ रहें। विश्व का ऐसा धर्म ही नहीं है। इसीलिए मृत्यु की पुकार और कुछ भी नहीं है,

वहाँ डेरा बदलने की पुकार है। जीवन को किसी तरह भी वह किसी सनातन चहारदीवारी के भीतर आवद्ध होकर रहने न देगा जीवन को उस जीवन के पथ में अग्रसर करने के ही लिए मृत्यु है।

इसीलिए मैं आज चला जा रहा हूँ, आख्यायिका का राजकुमार जैसे हठात् एक दिन अकारण ही सात समुद्र पार करने के लिए बाहर निकल पड़ता था उसी तरह मैं आज बाहर जा रहा हूँ राजकुमारी सो गयी हैं, वह नींद टूटती नहीं है, सोने की सलाई चाहिये। एक ही स्थान में एक ही प्रथा में बैठे बैठे जीवन में जड़ता आती है, वह अचेतन हो उठता है, वह केवल अपने बिछौने को ही जकड़े रहता है, इस बृहत् पृथ्वी का अनुभव भी नहीं कर सकता, तब सोने की सलाई ढूँढ निकालने की जरूरत पड़ेगी, तभी दूर स्थान को पार करना चाहिये। तब एक ऐसी चेतना की आवश्यकता आ पड़ेगी जो हमारी आँख, कान, मन के बन्द दरवाजे पर केवल ही नये नये के आघात लगाती रहेगी—जो हमारे जीर्ण परदे को टुकड़े टुकड़े करके चिर नूतन को उद्घाटित कर देगी। क्या ही बृहत्, क्या ही सुन्दर, क्या ही उन्मुक्त यह जगत् है! कैसा प्राण, कैसा प्रकाश, कैसा आनन्द है। मनुष्य इस पृथ्वी को घेरकर कितने प्रकार से देख रहा है, सोच रहा है, बना रहा है। उसके प्राणों का, उसके मन का, उसकी कल्पना का लीला-क्षेत्र कहीं भी खतम नहीं हुआ। पृथ्वी को घेर कर मनुष्य का यह जो मनोलोक है इसकी क्या ही न खतम होने वाला अद्भुत विचित्रता है। उन सभी को लेकर ही तो मेरी यह पृथ्वी है। इसीलिए इस सभी को एक बार प्रदक्षिण कर के प्रत्यक्ष देखनेके लिए मन में आह्वान आता है।

इस विपुल विचित्रता को एक एक करके पूर्ण रूप से देखने की सामर्थ्य और अवकाश किसी को नहीं है। विश्व का दर्शन करने की नीयत से उसके सामने बाहर निकल आने से ही दर्शन का फल मिलता है। यद्यपि एक हिसाब से विश्व सर्वत्र ही मौजूद है, तो भी आलस्य छोड़कर अभ्यास को पारकर, आखें खोल, यात्रा करने से ही हमारी दृष्टिशक्ति की जाड़ता मिट जाती है और हमारे प्राण उद्बोधित होकर विश्व-प्राण का स्पर्श समझने लगता है। जो निश्चल है, जो विरुद्दम है, वह मनुष्य उसी चीजको खो देता है, जो बिलकुल ही हाथ के पास मौजूद है। इसी लिए निकट के धन को दुःख उठा कर दूर ढूँढ कर बाहर निकाल सकने से, उस को अत्यन्त निविड रूप से पाया जाता है। हमारे सभी भ्रमणों के भीतर का असल उद्देश्य यही है जो है ही, जो खो भी नहीं सकता, उसी को केवल ही पग-पग पर है है है कहते कहते चलना पुराने को केवल ही नया नया नया बनाकर पूरे मन से छू छू कर जाना।

६

आनन्द रूप

आज प्रातःकाल जहाज की छत के ऊपर रेलिंग पकड़ कर मैं खड़ा था। आकाश के पाण्डुर नील और समुद्र की निविड़ नीलिमा के बीच से पश्चिम दिगन्त से मृदु शीतल हवा आ रही थी। आनन्दस्वरूप मेरा ललाट मधुरता से अभिषिक्त हो गया। मेरा मन कहने लगा, 'यही तो है उन की प्रसादसुधा का प्रवाह।'

सब समय मन इस तरह नहीं कहता। बहुत समय हम बाहरके सौन्दर्य को बाहर ही देखते हैं। उससे आँखें शीतल होती हैं, किन्तु उसे हृदय में हम ग्रहण नहीं करते। ठीक मानो अमृत फलको हम सूँघते हैं, उसका स्वाद नहीं लेते।

किन्तु, सौन्दर्य जिस दिन अन्तरात्माको प्रत्यक्ष स्पर्श करता है दूसरे दिन उसके बीचसे असीम बिलकुल ही उद्भासित हो उठता है। तभी समस्त मन एक पल में गाना गा उठता है,—"नहीं नहीं, यह केवल रंग नहीं है, गन्ध नहीं है यही तो है असल यही है। उनके विश्वव्यापी प्रसाद की धारा।'

आकाश और समुद्र के बीच प्रभात के प्रकाश से यह जो अनिर्वचनीय माधुर्य स्तर स्तर पर विभिन्न दिशाओं में विकसित हो उठा है, यह है किस स्थान में? यह क्या जल में है। यह

. क्या हवा में है। इस धारणा के अतीत को कौन धारण कर सकता है।

यही है आनन्द , यह है प्रसाद। यही देश देश में, समय समयपर, असंख्य प्राणियों के प्राण शीतल कर रहा है, मन को चुरा रहा है— यह और किसी तरह भी खतम नही हुआ। इसके ही अमृत स्पर्श से कितने ही कवियों ने कविताएँ लिखीं कितने शिल्पियों शिल्प की रचना की, कितनी जननियों के हृदय स्नेह से पिघल गये, कितने प्रेमिकों का चित्त प्रेम से व्याकुल हो उठा। सीमा का वक्ष रन्ध्र रन्ध्र में भेदकर इस असीम का अमृत फव्वारा कितनी लीलाओं से लोक लोक में फैलाता हुआ, प्रवाहित होता हुआ चल पड़ा, उसका और अन्त मैं नहीं देख पाता। वह है आश्चर्य, परम आश्चर्य।

यही है आनन्द रूपममृतम्। रूप यहाँ अन्तिम बात नहीं है, मृत्यु यहाँ अन्तिम अर्थ नहीं है। यह तो है रूप के बीच से आया हुआ आनन्द, मृत्यु के बीच से आया हुआ अमृत। केवल ही रूप के बीच आकर मन रुक गया, मृत्यु के बीच आकर चिन्ता खतम हो गयी—तो फिर संसार में जन्म ग्रहण करके मैं क्या पा गया। वस्तु को मैंने देख लिया, सत्य को मैंने नहीं देखा।

मुझे क्या केवल आँखें हैं, कान हैं? मेरे अन्दर क्या सत्य नहीं है, आनन्द नहीं है? उसी अपने सत्य से आनन्द से जब मैं परिपूर्ण दृष्टि से जगत् की तरफ नजर उठा कर देखता हूँ, तभी देख पाता हूँ मेरे सामने है यह तरंगित समुद्र—यह प्रवाहित वायु—यह प्रसारित आलोक-वस्तु नहीं है, यह सबही आनन्द है, सबही लीला है, इसका समस्त अर्थ एक मात्र उनके ही अन्दर है। वे यह क्या दिखा रहे हैं, मैं उसका क्या जानता हूँ! इस आकाश प्लावी आनन्द की सहस्रलाख धाराएँ जहाँ एक महास्रोत

में मिलकर फिर उनके ही इस हृदय में वापस चली जा रही हैं, वहाँ ही पलभर के लिए खड़ा हो सकने से इस सबकुछ के महत् अर्थ को इसके परम परिणाम को मैं देख पाता। यह जो अचिन्तनीयशक्ति है, यह जो अवर्णनीय सौन्दर्य है, यह जो अपरिमित आनन्द है, इन्हे यदि केवल मिट्टी और जल कह कर मैं जान गया, तो वह कैसी व्यर्थता होगी, कैसी बड़ी बरबादी होगी। नहीं, नहीं, यही तो है उनका प्रसाद, यही तो है उनका प्रकाश, यही तो मुझे स्पर्श कर रहा है, मुझे घेर रहा है, मेरे चैतन्य के तार तार में सुर बजा रहा है, मुझे बचा रहा है, मुझे जगा रहा है, मेरे मन को विश्व की विचित्र दिशाओ से पुकार रहा है, मुझे पल पल में युग युगान्तरों में परि पूर्ण कर रहा है, अन्त नहीं है, कहीं भी अन्त नहीं है। केवल ही और भी, और भी। तो भी केवल एक, केवल ही एक, वही आनन्दमय अमृतमय एक! वही अतल, अकूल, अखण्ड निस्तब्ध सुगम्भीर एक। किन्तु कितनी हैं कितनी हैं उसकी तरंगें, कितने हैं उसके कल संगीत!

प्राण खोलकर, तृषा दूर कर, और प्राण तुम मुझको दो।
भुवन में अपने, भवन में अपने, और स्थान तुम मुझको दो॥
और ज्योति दो, और ज्योति दो, मम नेत्रों में डालो प्रभु हे।
बंसी सुर में जोड़ जोड़कर, और तान तुम दे दो हे॥

और वेदना और चेतना, दे दो तुम मुझको अब।
द्वार खोलकर, विघ्न दूर कर, त्राण करो तुम त्राण करो॥
और प्रेम से और प्रेम से, मेरा मैं डूबे नीचे को।
सुधा धार से अपने को तुम, और दान दो मुझको॥

लाल सागर २२ जेठ, १३१६

७

दो इच्छाएँ

केवल मनुष्य ही कहा करता है कि, आशा का अन्त नहीं है। संसार का और कोई जीव ऐसी बात नहीं कहता। अन्य सभी प्राणी प्रकृति की एक सीमा में प्राण धारण करते हैं, और उनके मन की सभी आकांक्षाएं भी उसी सीमा को मान कर चलती हैं। जन्तुओं का आहार-विहार अपने प्राकृतिक प्रयोजन की सीमा को लाँघना नहीं चाहता। एक जगह पर उनकी साध मिट जाती है और वहाँ वे स्थिर हो जाना जानते हैं। अभाव पूरा हो जाने पर उनकी इच्छाएँ आप ही आप रुक जाती हैं, उसके बाद फिर उसी इच्छा को झिड़क कर जगाने के लिए उनकी दूसरी कोई इच्छा नहीं है।

मनुष्य के स्वभाव में यह आश्चर्य दिखाई पड़ता है, कि एक इच्छा के ऊपर सवार होकर एक और इच्छा दबा रही है। पेट भर जाने पर खाने की इच्छा जब आप ही आप मिट जाती है, तब भी उस इच्छा को बलपूर्वक जगा रखने के लिए मनुष्य की और एक इच्छा तकाजा करती रहती है। वह किसी तरह चटनी खाकर औषध प्रयोग कर, आहार की अवसन्न इच्छा को प्रयोजन के ऊपर भी चलाता रहता है।

इससे मनुष्य का यथेष्ट नुकसान होता है, क्योंकि यह स्वाभा-

विक इच्छा नहो है। स्वभाविक इच्छा सहज में ही अपने प्राकृतिक स्वभाव की सीमा में परितृप्त होती रहता है। और मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा किसी प्रकार भी तृप्ति मानना नहीं चाहती। उस के अन्दर एक कौन सी बात ऐसी है जो केवल ही कह रही है और भी, और भी, और भी!

किन्तु, जिससे मनुष्य का नुकसान हो सकता है, वह इच्छा मनुष्य में रहती है क्यों? अपनी इस अदम्य इच्छा की तरफ देखकर ही मनुष्य ने विश्व व्यापार में एक शैतान की कल्पना की है। यहूदी पुराण के प्रथम स्त्री-पुरुष जिस समय स्वर्गोद्यान में थे तब ईश्वर ने उनकी इच्छा को प्रकृति की सीमा में बाँधकर कहा था—"इसी में सन्तुष्ट रहना, प्राणों का राज्य ही तुम लोगों के लिए रहा, ज्ञान के राज्य में लोभ मत करना।' स्वर्गोद्यान का प्रत्येक जीवजन्तु ही उस सन्तोष की सीमा में ही रहा, केवल मनुष्य ने ही कहा—"जो मिल चुका है, उससे और अधिक मिलना चाहिये।' यहाँ जो और की तरफ उसने कदम बढ़ा दिया वह है बहुत ही विषम राज्य। यहाँ स्वभाविक परितृप्ति की कोई सीमा कहीं निर्दिष्ट नहीं की गयी है। इस कारण किस तरफ कितनी दूरी तक जाया जा सकता है उसका परामर्श देनेवाला मिलना कठिन है। इसीलिए अतृप्ति के पथहीन राज्य में मरने की आशंका चारो तरफ ही फैली हुई है। ऐसे भयंकर स्थान में मनुष्य को अदम्य वेग से जो खींचकर ले आया, मनुष्य ने उसे गालियाँ देकर कहा—शैतान।

किन्तु चाहे क्रोध ही करू या जो भी करूं, संसार में शैतान को तो मान नहीं सकता। यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि, मनुष्य में इच्छा के ऊपर और भी पाने के लिए और एक इच्छा रहती है, वह उसके बाहर की तरफ से एक शत्रु का आक्रमण

नहीं है। इसको मनुष्य रिपु कहना चाहे तो कहे, किन्तु यही इच्छा उसकी यथार्थ मानवस्वभागवत इच्छा है। इसलिए जब तक इस इच्छा को वह जयी न बना सकेगा, तब तक उसे किसी तरह भी शान्ति न मिलेगी। तब तक उसे केवल ही आघात खा खाकर चक्कर लगाकर मरना पड़ेगा।

किन्तु, इस और भी की इच्छा को वह जयी बानावेगा किस तरह। आहार करने से उसका पेट भरेगा ही, भोग करने से उसे एक जगह पर निवृत्ति के पास आकर रुकना ही पड़ेगा—और भी की इच्छा को वहाँ किसी एक सीमा पर आकर हार मान ही लेनी पड़ेगी। केवल हार मान लेना नहीं, उस जगह वह दुःख पावेगा, और दुःख उपस्थित करेगा। व्याधि आवेगी, विकृति आवेगी, वह अपने को और दूसरों को बाधा देता रहेगा। क्योंकि, प्रकृति ने जहाँ सीमा खींच रक्खी है, उसको लाँघने के प्रयत्न में ही सजा है।

केवल यही बात नहीं। प्रकृति के सीमाबाद्ध क्षेत्र में हमें अपनी इस और भी की इच्छा को दौड़ाने के समय तुरन्त ही पर-स्पर की गरदन पर गिर जाना होता है। जो कुछ मेरे पास है, उससे अधिक लेने को तत्पर होते ही जो कुछ तुम्हारे पास है, उसके उपर हाथ लगाना पड़ता है। तब या तो गुप्त रूप से छलना का, या प्रकट रूप से शारीरिक जोर का आश्रय लेना पड़ता है। तब दुर्बलों के मिथ्याचार से और प्रबलों के अत्याचार से समाज नष्ट भ्रष्ट होता रहता है।

इसी प्रकार पाप आता है, विनाश आता है। किन्तु यह पाप यदि नहीं आता तो मनुष्य पथ नहीं देख पाता। यही और भी का अतृप्ति उसको जहाँ खीच ले जाती है, वहाँ यदि पाप की आग जलती है तो घोड़े को किसी तरह लागाम से रोककर लौटता

लाने की बात याद पड़ती है। इसी कारण मनुष्यलोक में दूसरी सभी इच्छाओं के ऊपर वही साधना प्रचलित है जिससे उस और भी की इच्छा को वश में लाया जाय। क्योंकि मनुष्य को ईश्वर ने वही एक भयंकर वाहन दे दिया है वह हमें कहाँ ले जाकर फेंक दे इस का कोई ठिकाना नहीं है। उसके मुँह में लगाम पहना दो, उसको चलाना सीखो। किन्तु इसी लिए उसका दाना पानी बन्दकरके उसको मार डालने से काम न चलेगा। क्योंकि और भी की इच्छा ही मनुष्य का यथार्थ वाहन है।

प्रयोजन-साधन की इच्छा जन्तुओं का वाहन है। इसके न रहने से उनको जीवन-यात्रा बिल्कुल ही नहीं चलती। यही इच्छा प्राकृतिक जीवन की मूल इच्छा है। यही है दुःख दूर करने की इच्छा। यही इच्छा जहाँ बाधा पाती है, वहाँ ही है जन्तुओं का दुःख, जिस जगह उसकी पूर्ति होती है, वहाँ ही है उनका सुख। इसीलिए दिखाई पड़ता है, जन्तुओं को सुख दुःख हैं, किन्तु उन्हें पाप-पुण्य नहीं है।

किन्तु, मनुष्यों में यह जो और–भी की इच्छा है, यह आराम की इच्छा नहीं है, वस्तुतः यह दुःख की ही इच्छा है। मनुष्य जो केवल ही प्राणों को तुच्छ बना कर, अपने ज्ञान प्रेम और शक्ति राज्य का उत्तर मेरु और दक्षिण मेरु आविष्कार करने के लिए बार बार बाहर निकाल पड़ता है, यह उसकी सुख की साधना नहीं है। यह उसकी किसी वर्तमान प्रयोजन-सिद्धि की इच्छा नहीं है।

वस्तुतः मनुष्यों में ये जो दो स्तरों की इच्छाए हैं, इनमें से एक है प्रयोजन की इच्छा, और दूसरी है, अप्रयोजन की इच्छा। एक है जिसके न रहने से किसी तरह भी काम नहीं चलता, उसकी इच्छा, और दूसरी है जिसके न रहने से अनायास ही काम

चलता है, उसकी इच्छा। आश्चर्य की बात यह है कि, मनुष्य के मन में इस दूसरी इच्छा की शक्ति ऐसी प्रबल है कि, वह जब जाग उठती है, तब वह इस प्रथम इच्छा को बिलकुल ही छार खार बना देती है। तब वह सुख-सुविधा-प्रयोजन की किसी भी माँग की तरफ एक दम ध्यान ही नहीं देता। तब वह कहता है—"मैं सुख नहीं चाहता, मैं और को ही चाहता हूँ। सुख मेरा सुख नहीं है। और भी ही मेरा सुख है।' तब वह कहता है—"भूमैव सुखम्।'

सुख कहने से जो बात समझी जाती है वह भूमा नहीं है। भूमा सुख नहीं है, आनन्द है। सुख के साथ आनन्द का फर्क यह है कि, सुख का विपरीत है दुःख, किन्तु आनन्द का विपरीत दुःख नहीं है। शिव जी जिस तरह गरल पी गये थे, आनन्द उसी तरह दुःख को अनायास ही ग्रहण करता है। यहाँ तक कि दुःख के द्वारा ही आनन्द अपने को सार्थक बनाता है, अपनी पूर्णता की उपलब्धि करता है। इसीलिए दुःख की तपस्या ही आनन्द की तपस्या है।

इसी लिए देख रहा हूँ, कि दूसरे जन्तुओं की तरह मनुष्य के नीचे की इच्छा दुःख दूर करने की इच्छा है, और ऊपर की इच्छा है दुःख को आत्मसात् करके आनन्द पाने की इच्छा। यही इच्छा ही केवल हमें कह रही है 'नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव विजिज्ञासितव्यः।'

इस कारण प्राकृतिक क्षेत्र में अपने सहज बोध मात्र को ले कर जन्तु दुःख निवृत्ति की चेष्टा के सनातन घेरे में बन्द हो रहा। मनुष्य ने अपने मानस-क्षेत्र में ज्ञान प्रेम शक्ति की किसी सीमा में ही बन्द होना नहीं चाहा। उसने कहा—'अभ्यास को नहीं, संस्कार को नहीं, प्रथा को नहीं, मैं भूमा को जानूँगा।'

यदि यही बात है तो 'और भी' की इच्छा को, इस आनन्द की इच्छा को, इतना अधिक वश में लाने के लिए मनुष्य की ऐसी प्राण पण चेष्टा की आवश्यकता क्या थी। इस प्रकाण्ड इच्छा के प्रबल स्रोत में आँखें बन्द करके आत्म समर्पण कर देने से ही तो मनुष्य का मनुष्यत्व सार्थक हो जाता।

इच्छा को लगाम से निबद्ध करने का प्रधान कारण यह है कि, दो इच्छाओं का अधिकार निर्णय करने के बारे में मनुष्य को विषम संकट में पड़ना पड़ा है। हमारी प्राकृतिक आवश्यकता का एक स्थान है, वहाँ हम सीमाबद्ध हैं। वहाँ अपनी वासना को उसकी सीमा की अपेक्षा बलपूर्वक खींचकर बढ़ाने में लग जाने से ही विपद् उपस्थित होगी। इसी सीमा का घेरा कुछ परिमाण में स्थिति स्थापक है, इस कारण कुछ दूरी तक वह खिचाँव सह लेती है। दुःसाहस पर निर्भर करके उस खिचाव को केवल बढ़ाने लगेंगे तो रावण की स्वर्ण-लंका ध्वंस हो जाती है, बैबिलन की सौध-चूड़ा टूटकर गिर पड़ती है। अपनी और भी इच्छा की गथनी को उसी तरफ लपेट ले जाने में व्याधि विकृति और पाप का विष मथित हो उठता है।

दिखाई पड़ रहा है कि, मनुष्य के अहम् का भाग ही संकीर्ण है। वहाँ अतिरिक्त परिमाण में जो भी ग्रहण करना चाहते हो, वही बोझ बन जाता है। अपने सुख, अपने स्वार्थ, अपनी शक्ति को अपरिमित करने की चेष्टा आत्महत्या की चेष्टा है। उस स्थान पर भूमा का बोझ बिलकुल ही नहीं सहा जाता। आहार में विहार में स्वार्थ-साधन में भूमा अति वीभत्स है।

इस कारण मनुष्य की यह और भी की इच्छा जब उन्मत्त हाथी की तरह क्षण-भंगुर अहम् के क्षेत्र में प्रवेश करती है, तब उसको भारी विपद् का सामना करना पड़ता है। केवल यदि

उससे अपना और दूसरों का दुःख आ जाता तो भी कोई बात नहीं थी। किन्तु इसको दुर्गति उसकी अपेक्षा और भी अधिक है। इससे पाप आता है, दुःख की नाप उसको नाप नहीं है। क्योंकि, पहले ही यह आभास दे चुका हूँ कि, केवल दुःख से ही मनुष्य को हानि नहीं होती—यहाँ तक कि दुःख से मनुष्य का कल्याण हो सकता है—किन्तु, पाप ही मनुष्य को परम हानि है।

इसके विपरीत पहलू को भी देखो। मनुष्य की आवश्यकता की इच्छा, अर्थात् सीमाबद्ध सांसारिक इच्छा जब स्वार्थ का क्षेत्र त्यागकर परमार्थ के क्षेत्र में प्रवेश करती है तब वह भी बहुत कुत्सित रहती है। तब वह केवल ही पुण्य का हिसाब रखता रहता है। जो पूर्ण आनन्द है, जो सभी फलाफलों के अतीत है, उसको फलाफल के आँकड़ों में गुणा-भाग करके गिनता रहता है। और उसी गणना के ऊपर निर्भर करके मनुष्य अहंकृत हो उठता है, केवल ही बाह्यिकता के जाल में जकड़ जाता है, और स्वार्थी शुचिता को कृपण के धन की तरह संकीर्ण घेरे में अत्यन्त सावधानी से जमा कर रखना रहता है। तब वह भूमा के क्षेत्र में विज्ञ संसारी को तरह अपना एक घेरा डालकर वैषयिकता की सृष्टि करता है, यह भी पाप की और एक मूर्ति है। यह है आध्यत्मिक को बाह्यिक, और परमार्थ को स्वार्थ बना डालना।

मनुष्य के मन में यह जो एक पाप का बोध आता है वह वस्तु क्या है उस पर विचार कर के देखने से दिखाई पड़ता है कि, हमारी जो महती इच्छा हमें भूमा की तरफ ले जायगी उसको ठीक उलटे मार्ग में छोटे से अहम् की तरफ खींच लाने से केवल दुःख ही उपस्थित होता हो यह बात नही— यहाँ तक कि स्थल—विशेष में दुःख नहीं भी उपस्थित हो सकता—उससे हम भूमा को खो देते हैं। हमारे बड़े काम का प्रश्न,

हमारे सत्य का प्रश्न नष्ट हो जाता है, जन्तुओं का इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं है, किन्तु मनुष्य के लिए ऐसा विनाश और कुछ भी नहीं है। इस विनाश का बोध सबके चित्त में समान नहीं है, यहाँ तक कि, किसी किसी के चित्त में अत्यन्त क्षीण है। किन्तु मोटे तौर से समग्र मानवों के मन में यह पाप-का बोध दुःख बोध की अपेक्षा बहुत बड़ा बना हुआ है। मनुष्य इस पाप को नष्ट करना चाहता है। पाप नामक शब्द के द्वारा मनुष्य ने अपनी जिस एक गंभीरतम दुर्गति को भाषा में व्यक्त किया है, इसके द्वारा ही मनुष्य ने अपना सत्यतम परिचय दिया है।

वह परिचय यह है कि, सीमाबद्ध प्रकृति में मनुष्य का स्वाभाविक विहार-क्षेत्र नहीं है, अनन्त में ही मनुष्य का आनन्द है, अहम् की दिशा ही मनुष्य की परम सत्य की दिशा नहीं है, ब्रह्म की ही तरफ उसका सत्य है। मनुष्य अपने अन्दर जिस एक परम इच्छा को पा गया है, जो इच्छा किसी तरह भी अल्प को मानना नहीं चाहती, वह दुस्सह तपस्या के बीच से ज्ञान में, विज्ञान में, शिल्प में, साहित्य में मनुष्य के चित्त को आनन्दमय मुक्ति की ओर केवल ही प्रवाहित करती हुई जा रही है और वह प्रेम भक्ति और पवित्रता से मनुष्य की समस्त चेतनाधारा को एक अपरिसीम अतल-स्पर्श अमृत पारावार के बीच उत्तीर्ण कर रही है, मनुष्य की उस परम गति को, जो कुछ बाधा देता है, जो उसे विपरीत दिशा को खींचता है, वही है पाप, वही है दुर्गति, वही है उसका महान विनाश।

८

अन्तर-बाहर

खूब प्रातः काल केबिन में बिछौने पर जब पहली नींद टूट गयी तब खिड़की के भीतर से मैंने देखा कि समुद्र में आज हिलोर चलने लगे हैं। पश्चिम दिशा से जोरदार हवा बह रही है। कान रोप कर तरंगों की आवाज सुनते-सुनते एक समय मन में विचार उठा, किसी एक अदृश्य यन्त्र से गाना हो रहा है। उस गायन का शब्द बादलों कि गर्जना की तरह प्रबल है ऐसी बात नहीं है, वह है गभीर और विलम्बित, किन्तु जिस तरह मृदंग करताल के बल वान शब्दों की घटा में बेहले के एक तार का एकसुरा तान सबको पार करके हृदय में बजता रहता है उसी तरह उस धीर गंभीर सुर की अविराम धारा समस्त अकाश के मर्मस्थान को पूर्ण करके उच्छ्लित हो रही थी। अन्त में ऐसा हुआ कि अपने मन में मैं जो सुर सुन रहा था, उसको ही अपने गले में लाने की चेष्टा मैं करने लगा। किन्तु ऐसी चेष्टा एक अत्याचार है, यह उस बड़े सुर की शान्ति को नष्ट कर देती है, इसी लिए मैं चुप हो रहा।

एक बात मुझे याद पड़ गयी, प्रभात में महासमुद्र ने मेरे मन के यन्त्र में जो यह गायन जगा दिया, वह तो हवा की गर्जना और तरंगो की कलध्वनि की प्रतिध्वनि नहीं थी। उसको किसी तरह भी मैं इस आकाशव्यापी जलवायु के शब्दों का अनुकरण

नहीं कह सकता। वह सम्पूर्ण स्वतन्त्र है। वह है एक गायन। उसमें सुर फूलों की पँखड़ियों की तरह एक के बाद एक करके धीरे-धीरे स्तर स्तर पर उद्घाटित हो रहे थे।

फिर भी, मुझे मालूम हो रहा था कि, वह स्वतंत्र कुछ भी नहीं है, वह इस समुद्र के विपुल शब्दोच्छ्वास की ही अन्तरतर ध्वनि है। यह गायन ही पूजा-मन्दिर की सुगन्धि धूप के धुएं की तरह रंध्र-रंध्र को भरता हुआ केवल ही ऊपर चढ़ता जा रहा है। समुद्र के निश्वास में जो उच्छ्वसित हो रहा है उसके बाहर है शब्द, हृदय में है गान।

बाहर के साथ भीतर का एक मेल जरूर, है किन्तु वह योग अनुरूपता का योग नहीं है, बल्कि देख पाता हूँ कि, वह योग बिलकुल अभेद का मेल है। दो परस्पर मिले हुए हैं, किन्तु दोना में मेल कहाँ है यह पकड़ने का उपाय नहीं है, वह अनिर्वचनीय मेल है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण योग्य मेल नहीं है।

आँखों में लग रहा है स्पन्दन का आघात, और मन में देख रहा हूँ उजाला। शरीर में सट रही है वस्तु, और चित्त में जाग रहा है सौन्दर्य। बाहर घटित हो रहा है घटना, और भीतर सुख दुःख हिलोरा उठा रहा है। एक का आयतन है, उसका विश्लेषण किया जाता है, और दूसरे का आयतन नहीं है, वह है अखण्ड। यह कहने से मैं जिसे समझता हूँ यह बाहरी तौर से कितने शब्द गन्ध स्पर्श, कितने क्षणों की चिन्ताएँ और अनुभूति है, फिर भी इन सभी के भीतर से जो एक चीज अपनी समग्रता में प्रकट हो रही है, वही है मैं, और वह अपने बाहर के रूप का प्रतिरूप मात्र नहीं है, बल्कि बाहर की विपरीतता के ही द्वारा वह व्यक्त हो रही है।

विश्व रूप के अन्तर तर इस अपरूप को प्रकट करने के ही लिए शिल्पियों, गुणियों की इतनी व्याकुलता है। इसी कारण उनकी

वह चेष्टा अनुकरण के भीतर से कभी सफल नहीं हो सकती। बहुधा अभ्यास के मोह से हमारे बोधों में जड़ता आती है। तब हम लोग जिसको देखते हैं, केवल उसी को देखते हैं। प्रत्यक्षरूप जब अपने को ही चरम कहकर हम लोगों के सामने आत्मपरिचय देता है, तब यदि हम उसी परिचय को मान लें तो उस जड़ परिचय से हमारा चित्त नहीं जागता। तब पृथ्वी में हम चलते हैं, घूमते हैं, काम करते हैं, किन्तु पृथ्वी को हम चित्त से ग्रहण नहीं करते। क्योंकि, इस पृथ्वी की अन्तरतर अपरूपता को उद्घाटित करने के काम में ही कवि और गुणी लाग नियुक्त हैं।

इसी कारण वे लोग हमारे अभ्यस्त रूप का अनुसरण न करके उसको खूब अच्छी तरह हिला देते हैं। वे लोग एक रूप को एक दूसरे रूप में ले जाकर उसकी चरमता को माँग का आग्रह कर देते हैं। आँखों से देखने की सामग्री को वे लोग कानों से सुनने की जगह खड़ा कर देते हैं। कानों में सुनने की सामग्री को वे लोग आँखों से देखने की रेखा में रूपान्तरित कर रखते हैं। इसी तरह उन लोगों ने दिखाया है, संसार में रूप नामक वस्तु ध्रुव सत्य नहीं है, वह रूपक मात्र है, उसके अन्तर में प्रवेश कर सकने से ही उसके बन्धन से मुक्ति मिलेगी, तभी आनन्द में परित्राण मिलेगा।

हमारे गुणियों ने भैरवी राग से सुर बाँध कर कहा यह तो प्रभाती गान है। किन्तु उसमें प्रभात के नव जाग्रत संसार की तरह तरह की ध्वनियों की क्या कोई नकल दिखाई पड़ती है। कुछ भी नहीं। तो फिर भैरवी सुर को प्रभातकालीन रागिनी कहने का क्या अर्थ हुआ। उसका अर्थ यह है, प्रातःकाल के सभी शब्दों और निःशब्दता के अन्तरतर संगीत को गुणियों ने अपने अन्तःकरण से सुना है। प्रातःकाल के किसी बाहरी अंग

के साथ इस संगीत को मिला देने की चेष्टा करने से वह चेष्टा व्यर्थ हो जायगी।

अपने देश के संगीत की यह विशेषता मुझे बहुत ही अच्छी लगती है। हमारे देश में प्रभात, मध्याह्न अपराह्न, सायाह्न, अर्ध रात्रि और वर्षा वसन्त की रागिनी बनायी गयी है। उन रागिनियों में से सभी सबको ठीक मालूम होंगी या नहीं, मैं नहीं जानता। कम से कम मैं सारंग राग को मध्याह्न काल का सुर अपने हृदय से नहीं मानता। भले ही हो, किन्तु विश्वेश्वर के खास महल के नौबतखाने में समय समय के अनुसार ऋतु-ऋतु में नयी नयी रागिनी बज रही है, हमारे गुणियों के अन्तःकरणों में वह प्रवेश कर चुकी है। बाहर के प्रकाश के अन्तराल में जो एक गंभीरतर अन्तर का प्रकाश है, हमार देश का टोड़ी-कनाड़ा उसी को बता रहा है।

यूरोप के बड़े बड़े संगीत रचयिताओं ने अवश्य ही किसी न किसी उपाय से अपने गानों में विश्व की उसी अन्तर की वार्ता को ही प्रकट करने की चेष्टा की है, उनकी रचनाओं के साथ यदि उस तरह का परिचय हो जाता तो, उस सम्बन्ध में आलोचना की जायगी। आपाततः यूरोपीय संगीत-सभा की बाहरी ड्योढ़ी पर फालतू लोगों की भीड़ में जितना सुनाई पड़ता है, उसके सम्बन्ध में दो चार बातें मेरे मन में उठ पड़ी हैं।

हमारे जहाज के यात्रियों में कोई कोई सन्ध्या के समय गाना बजाना करते हैं। जब ही इस तरह की बैठक जमती है, मैं भी उस कमरे के एक कोने में जा बैठता हूँ। विलायती गान मुझे स्वभावतः अच्छा लगता है इसीलिए मुझे वह खींच ले जाता है, यह बात नहीं है। किन्तु मैं अवश्य जानता हूँ, अच्छी चीज अच्छी लगने की एक साधना है। साधना के बिना जो हमें मुग्ध

करती है, वह बहुधा मोह ही है, और जो, हटा देती है वही है यथार्थ उत्कृष्ट। इसीलिए मैं यूरोपीय संगीत सुनने का अभ्यास करता हूँ। जब मुझे वह अच्छा नहीं लगता, तब भी उसको अश्रद्धा करके छोड़ नहीं देता।

इस जहाज में एक युवक और दो एक महिलाएँ हैं। वे शायद खराब गाना नहीं गातीं। देखता हूँ कि, श्रोता लोग उनके गानों में विशेष आनन्द दिखाते हैं। जिस दिन सभा विशेष रूप से जम जाती है उस दिन एक के बाद एक करके बहुत से गान चलते रहते हैं। किसी गान में इङ्गलैण्ड का गौरव-गर्व, किसी गान में हताश प्रेमिका का विदा-संगीत, किसी गान में प्रेमिका का प्रेम-निवेदन रहता है। सभी में एक विशेषत्व मैं यही देखता हूँ, गान के सुर में, और गायक के कंठ में पग-पग पर खूब जोर लगाने की चेष्टा रहती है। वह जोर संगीत के अन्दर का शक्ति नहीं है, वह मानो बाहरी तरफ से प्रयास है। अर्थात् हृदयावेग के उत्थान-पतन को सुरों और कंठस्वर के झोंक से अच्छी तरह प्रत्यक्ष कर देने की चेष्टा है।

यही है स्वाभाविक। हमारे हृदयोच्छ्वास के साथ साथ स्वभावत: ही हमारे कंठस्वर का वेग कभी मृदु कभी प्रबल हो उठता है। किन्तु गान तो स्वभाव की नकल नहीं है। क्योंकि, गान और अभिनय तो एक चीज नहीं है। अभिनय को यदि हम गान के साथ मिला देते हैं, तो गान की विशुद्ध शक्ति को ढक देना होता है। इसीलिए जहाज के सेलून पर बैठकर जब इनका गान सुनता हूँ तब मुझे केवल यही मालूम होने लगता है, मानो ये लोग हृदय के भाव को ठेल कर, आँखों में अँगुली डालकर दिखा देना चाहते हैं।

किन्तु संगीत को तो हम लोग इस तरह बाहरी तौर से देखना

नहीं चाहते। प्रेमी ठीक तौर से किस तरह अनुभव कर रहा है, यह तो मेरा जान लेने का विषय नहीं है। उस अनुभूति के अंतर अन्तर में जो संगीत बज रहा है उसी को हम गान से जानना चाहते हैं। बाहर के प्रकाश के साथ यह अन्तर का प्रकाश बिल्कुल ही भिन्न जातीय है। क्योंकि, बाहर की तरफ जो आवेग है, अन्तर की तरफ वही है सौन्दर्य। ईश्वर का स्पन्दन और आलोक का प्रकाश जैसे स्वतंत्र है, यह भी वैसे ही स्वतंत्र है।

हम लोग आँसू बहाकर रोते हैं और हँसकर आनन्द दिखाते हैं, यही है स्वाभाविक, किन्तु दुःख के गान में यदि गायक उस अश्रुपात और सुख के गान में हास्य-ध्वनि की सहायता ग्रहण करता है तो उससे संगीत की सरस्वती का अपमान करना होता है, इसमें सन्देह नहीं है। वस्तुतः, जहाँ आँसू का भीतरी आँसू झरकर गिरने नहीं लगता और हास्य का भीतरी हास्य ध्वनित नहीं होता, वहाँ ही है संगीत का प्रभाव। वहाँ ही मनुष्य की हँसी-रुलाई के बीच से ऐसी एक असीम की चेतना परिव्याप्त हो जाती है, जहाँ हमारे सुख दुःख के सुर में सब पेड़-पौधों नदी झरनों की वाणी व्यक्त हो उठती है और अपने हृदय की तरंगों को विश्व-हृदय-समुद्र की ही लीला रूप में हम समझ सकते हैं।

किन्तु सुर और कंठ पर जोर लगाकार, झोंका देकर हृदयावेग की नकल करने में संगीत की उस गंभीरता को बाधा देना होता है। समुद्र के ज्वार-भाटे की तरह संगीत का अपना एक चढ़ना उतरना है, किन्तु वह उनकी अपनी ही चीज है, कविता के छन्दों की तरह वह उसके सौन्दर्य-नृत्य का पाद-विक्षेप है। वह हमारे हृदयावेग के पुतली नाचने का खेल नहीं है।

अभिनय-वस्तु यद्यपि मोटे तौर से दूसरी कला-विद्याओं की अपेक्षा नकल की तरफ ज्यादा झोंक देती है, तो भी वह बिलकुल

ही साधारण बात नहीं है। उसने स्वाभाविक का पर्दा खोलकर उसके भीतरी तरफ की लीला को दिखाने का भार लिया है। स्वाभाविक की तरफ ज्यादा झोंक लगाने में उस भीतरी तरफ को आछन्न कर दिया जाता है। रंगमंच पर प्रायः ही दिखाई पड़ता है, मनुष्य के हृदयावेग को अत्यन्त वृहत् बनाकर दिखाने के लिए अभिनेता लोग कंठ स्वर में और अंग भंगी में जबदस्ती प्रयोग करते रहते हैं। इसका कारण यह है कि, जो व्यक्ति सत्य को प्रकट न करके सत्य की नकल करना चाहता है, वह झूठी गवाही देनेवाले की तरह बढ़ा चढ़ाकर बोलता है। संयम का आश्रय लेने का साहस उसे नहीं होता। हमारे देश के रंग मंच पर प्रतिदिन ही झूठी गवाही का वही पसीना बहा देने वाला व्यायाम दिखाई पड़ता है। किन्तु, इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा दृष्टान्त मैंने बिलायत में देखा था। वहाँ विख्यात अभिनेता आर्विंग का हैमलेट और ब्राइड आव लामार्मुर देखने गया था। आर्विंग का प्रचण्ड अभिनय देखकर मैं हतबुद्धि हो गया। ऐसी असंयत अधिकता से अभिनय के विषय की स्वच्छता बिलकुल ही नष्ट हो जाती है, उससे केवल बाहरी तरफ ही झूलने लगता है, गंभीरता में प्रवेश करने की ऐसी बाधा तो मैंने और कभी नहीं देखी।

आर्ट नामक वस्तु में संयम का प्रयोजन सबसे अधिक है। क्योंकि संयम ही अन्तर-लोक में प्रवेश का सिंह-द्वार है। मानव जीवन की साधना में भी जो लोग आध्यत्मिक सत्य की उपलब्धि करना चाहते हैं, वे लोग भी बाह्य उपकरण को संक्षिप्त बनाकर संयम का आश्रय लेते हैं। इसीलिए आत्मा की साधाना में एक ऐसी अद्भुत बात बतायी गयी है। त्यक्तेन भुञ्जीथाः—त्याग के द्वारा भोग करना चाहिये। आर्ट की भी चरम साधना भूमा की साधना है। इसीलिए प्रबल आघात से हृदय की मादकता को

फुलाना आर्ट का सच्चा व्यवसाय नहीं है। संयम के द्वारा वह हम लोगों को अन्तर की गंभीरता में ले जायगा, यही है उसका सत्य लक्ष्य। जिसे आँखों से देख रहा हूँ, उसको ही नकल मत करना। अथवा उसके ही ऊपर खूब मोटी तूलिका का दाग चला कर उसे ही अतिशय बनाकर हमें लड़कों की तरह मत फुसलाना।

इस प्रबलता के झोंके से हमारे मन को केवल ही धक्का लगाने की चेष्टा यूरोपीय आर्ट के क्षेत्र में साधारणतः दिखाई पड़ती है। मोटे तौर से यूरोप वास्तविकता को ठीक वास्तविकता की तरह देखना चाहता है। इसीलिए जहाँ भक्ति का चित्र अंकित देखता हूँ वहाँ देख पाता हूँ, दोनों हाथ जोड़कर सिर आकाश में उठाकर, आँखों की दोनों पुतलियों को उलटकर भक्ति की बाह्य भंगिमा अत्यन्त स्पष्ट रूप से अंकित है। हमारे देश में जो सब छात्र विलायती आर्ट की नकल करने जाते हैं, वे इसी तरह की भंगिमा के मार्ग की ओर दौड़ पड़े हैं। वे समझते हैं, वास्तविकता के ऊपर जोर के साथ झोंक देने से ही मानो आर्ट का काम अच्छी तरह सुसिद्ध हो जाता है। इसीलिए नारद का चित्र बनाते समय वे 'यात्रा दल' के नारद को अंकित कर देते हैं-- क्योंकि ध्यान की दृष्टि से देखना तो उनकी साधना नहीं है, यात्रा के दल के अतिरिक्त और तो कहीं उन लोगों ने नारद को देखा नहीं है।

हमारे देश में बौद्ध युग में एक दिन यूनानी शिल्पकारों ने तपस्वी बुद्ध की मूर्ति बनायी थी। वह उपवासजीर्ण कृश शरीर की ठीक ठीक प्रतिमूर्ति थी। उसमें पंजरियो को प्रत्येक हड्डी का हिसाब गिनने से मिल जाता है। भारतवर्षीय शिल्पकारों ने भी तपस्वी बुद्ध की मूर्ति बनायी थी, किन्तु उसमें उपवास का सच्चा इतिहास नहीं था। तपस्वी की आन्तरिक भूमि में हाड़-गाड़ का

हिसाब नहीं था। वह डाक्टर का सार्टीफकेट लेने के लिए नहीं था। उसने वास्तविकता को जरा भी अपनाया नहीं था, इसीलिए सत्य को दिखा सका था। व्यवसायी आर्टिस्ट वास्तविकता का साक्षी है, और गुणी आर्टिष्ट सत्य का साक्षी है। वास्तविकता को हम आँखों से देखते हैं। और सत्य को मन से देखने के सिवा दूसरा उपाय नहीं है। मन से देखने लगने में ही आँखों की सामग्री के अत्याचार को खर्व बना देना पड़ेगा। बाहर के रूप को साहस के साथ कहना ही पड़ेगा, "तुम चरम नहीं हो, तुम परम नहीं हो, तुम लक्ष्य नहीं हो, तुम साधारण उपलक्ष्य मात्र हो।"

———

६

खेल और काम

भूमध्य सागर का पहला घाट पोर्ट सैद है। यहाँ से ही हमें यूरोप के पार जाने को चल देना पड़ेगा। सन्ध्या के समय हम लोग बन्दरगाह पर पहुँच गये। शहर की खिड़कियों में उस समय बत्तियाँ जल चुकी थीं। आरोहियों को थल पर पहुँचा देने के लिए छोटी-छोटी नावों और मोटरबोट झुण्ड के झुण्ड चारो तरफ आकर हमारे जहाज को घेर रहे हैं। पोर्टसैद के बाजार दूकानों को घूम कर देखने के लिए बहुत से ही लोग वहाँ उतर पड़े। मैं उस भीड़ में नहीं उतरा। जहाज का रेलिंग पकड़ कर खड़ा रह कर देखने लगा। अन्धकार समुद्र और अन्धकार आकाश दोनों के संगमस्थान में थोड़ी-सी जगह में मनुष्य अपनी इनी-गिनी बत्तियों को जलाकर रात को बिल्कुल ही अस्वीकार कर बैठा है।

पोर्ट सैद में बहुत से नये आरोहियों के चढ़ने की बात सुनी गयी थी। पुराना दल इस समाचार से विशेष क्षुब्ध हो उठा है। और सभी नवीनों को मनुष्य ढूँढ़ कर निकालता है, किन्तु नया मनुष्य! ऐसी घबड़ाहट की बात और कुछ भी नहीं है। उसके पास आ जाने पर उसके साथ अन्दर बाहर से समझौता कर ही लेना पड़ेगा। वह तो केवल मात्र कौतूहल का विषय नहीं है।

अपना मन लेकर वह दूसरे के मन को ठेला-ठेली करता है। मनुष्य की भीड़ की बराबरी की दूसरी भीड़ नहीं है।

पोर्ट सैद में जो लोग जहाज पर चढ़े, वे प्रायः सभी फ्रान्सीसी थे। हमारा डेक अब मनुष्यों से भर चुका है। अब परस्पर की देह-नौका को बचाने में विधिवत् माझीगिरी करने की जरूरत है।

प्रातःकाल से लेकर रात के दस बजे तक डेक के ऊपर यूरोपीय नर-नारियों का प्रतिदिन का समय बिताना मैं और भी कई बार देख चुका हूँ, इस बार भी देख रहा हूँ! पहले ही दिखाई पड़ता है, ये लोग हरदम ही चंचल बने हुए है। इतनी चंचलता हम लोगों को अभ्यस्त नहीं है। अपने गरम देश में हम किसी तरह ठंडा रहना चाहते हैं—आँखों के सामने दूसरा कोई अस्थिरता दिखाने लगता है तो भी हमें गरम मालूम होता है। 'चुप रहो, स्थिर रहो, झूठमूठ काम मत बढ़ाओ' यही है हमारे समस्त देश का अनुशासन। और ये लोग केवल यही बात कहते हैं—"कोई काम किया जाय।" इसी लिए बालक-बूढ़े सभी मिलकर चंचलता दिखा रहे हैं। हँसी-गल्प, खेल-आमोद में विराम नहीं है, अवसान नहीं है।

अभ्यास की बाधा को हटाकर जब मैं यह दृश्य देखने लगता हूँ, तब मुझे मालूम होता है मानो मैं बाह्य प्रकृति की एक लीला देख रहा हूँ। मानो झरना झर रहा है, मानो नदी चल रही है, मानो पेड़-पौधे हवा में खेलवाड़ कर रहे हैं। अपनी सारी आवश्यकता को पूरा करके भी प्राणों का वेग अपने को खतम करने में असमर्थ हो रहा है, तब वह अपनी उस बची-खुची प्रचुरता के द्वारा अपने को ही प्रकट कर रहा है।

हम जब छोटे से बच्चे को कहीं अपने साथ ले जाते हैं, तब

कुछ खिलौने की तैयारी रखते हैं। नहीं तो उसको शान्त रखना कठिन हो जाता है। क्योंकि, उसके प्राण का सोता उसकी आवश्यकता की सीमा को पार करके चला जा रहा है। वह उमड़ा हुआ प्राण का वेग अपनी लीला का उपकरण न मिलने से अधीर हो उठता है। इसीलिए लड़कों को अकारण ही दौड़-धूप करनी पड़ती है, वे जो सब चिल्लाहट शोरगुल करते हैं उसका कुछ भी अर्थ नहीं होता और उनका खेल देखने से विज्ञ व्यक्तियों को हँसी आती है। किन्तु, उनके इस खेल का उपद्रव हमारे लिए जितना ही बड़ा उपद्रव क्यों न हो, खेल को बन्द कर देने से वह उपद्रव और भी भारी हो उठता है, इसमें सन्देह नहीं है।

ये जो सब यूरोपीय यात्री जहाज पर चढ़े हुए हैं, इनके लिए भी कितनी किस्म के खेलों की तैयारी करनी पड़ी है, उसकी कोई संख्या नहीं है। यदि हम लोगों का जहाज होता, तो ताशा पाशा आदि अत्यन्त ठंडे खेलों के सिवा इन सब दौड़-धूप वाले खेलों की व्यवस्था करने की तरफ हमारी नजर भी नहीं जाती। विशेषतः कुछ दिनों के लिए राह चलने के काम में अवश्य ही इन अनावश्यक बोझों को हम छोड़ देते, और इससे किसी को कुछ बुरा भी नहीं लगता।

किन्तु यूरोपीय यात्रियों को ठंढा रखने के लिए खेल चाहिये, उनके प्राणों के वेग में प्रतिदिन के व्यवहार के अतिरिक्त एक बहुत बड़ा परिशिष्ट भाग है, उसे चुपचाप बैठा रखेगा कौन। उसको सतत व्यस्त रखना चाहिये। इसीलिए खिलौने के बाद खिलौना जुटाना पड़ता है और खेल के बाद खेल पैदा करके उसको फुसला रखना आवश्यक है।

इसीलिए देखता हूँ, ये लड़के-बूढ़े सभी केवल छटपटा रहे हैं और आमोद-प्रमोद कर रहे हैं। हम लोगों के लिए वह एकदम

अनावश्यक होने के कारण पहले पहल कैसा अद्भुत जान पड़ता है। मन में हम सोचते है, बड़ी उम्र वालों के लिए ये सब लड़कपन निरर्थक असंयम का परिचय मात्र है। लड़कों के खेलने की उम्र रहने के कारण ही खेल उनको शोभा देता है। काम की उम्र में खेल का इतना उत्साह अत्यन्त असंगत है।

किन्तु, जब हम समझ लेते हैं कि, किसी यूरोपीय के लिए यह चंचलता और खेल का उद्यम नितान्त ही स्वभावसंगत है तब हम उसकी एक शोभनता देख पाते हैं। यह मानो वसन्त काल की अनावश्यक प्रचुरता की भाँति हैं। जितने फल लगेंगे, उनकी अपेक्षा बहुत अधिक मुकुल लगे हुए हैं। किन्तु इस अनावश्यक ऐश्वर्य के न रहने से पग पगपर आवश्यकता में कृपणता उपस्थित होती।

इनके खेलों में जरा सी भी लज्जा की बात नहीं है। क्योंकि, यह खेल आलसी का समय बिताना नहीं है—क्योंकि, हमने देखा है इनके प्राणों की शक्ति केवल खेल ही नहीं करती, कर्मक्षेत्र में इस शक्ति का आलस्यहीन उद्यम चलता रहता है, इसका अप्रतिहत प्रभाव रहता है। कैसी आश्चर्यजनक क्षमता के साथ इन लोगों ने समस्त पृथ्वीव्यापी विपुल कर्मजाल को फैला दिया है, यह सोचकर देखने से स्तम्भित हो जाना पड़ता है। उसके पीछे शरीर और मन का कैसा अपरिमित अध्यवसाय नियुक्त है। वहाँ कहीं भी जरा सी भी जड़ता नहीं है, शिथिलता नहीं है, सतर्कता सर्वदा जाग्रत है, सुयोग का तिल मात्र भी अपव्यय दिखाई नहीं पड़ता।

जो शक्ति कर्मों के उद्योग में अपने को सर्वदा प्रवाहित कर रही है, वही शक्ति खेल की चंचलता में अपने को तरंगित कर रही है। शक्ति की इस प्रचुरता की अवज्ञा विज्ञ की तरह मैं नहीं

कर सकता। यही मनुष्य के ऐश्वर्य को नयी नयी सृष्टियों में बढ़ाती चली जा रही है। यह अपने को विचित्र दिशाओं में अनायास ही अजस्र त्याग कर रही है इसी कारण अपने को बहुत गुणों में वापस पा रही है। यही साम्राज्य में वाणिज्य में, विज्ञान में साहित्य में कहीं भी कोई सीमा नहीं मान रही है—दुर्लभ के बन्द दरवाजे पर दिन-रात प्रबल वेग से आघात कर रही है!

यह जो उद्यतशक्ति है, जिसके एक तरफ क्रीड़ा है और दूसरी तरफ कर्म है, यही है यथार्थ सुन्दर। स्त्री में हम जहाँ लक्ष्मी का प्रकाश देख पाते हैं, वहाँ हम एक तरफ देखते हैं सजावट बनावट, लीला-माधुर्य, और दूसरी तरफ देखते हैं अक्लान्त कर्म-परता और सेवानिपुणता। इन दोनों का विच्छेद ही कुत्सित है। वस्तुतः, शक्ति ही सौन्दर्य रूप में अपने को प्रकट करती है, और शक्तिहीनता ही शिथिलता और अव्यवस्था के बीच से केवल ही कदर्यता की जड़ में अपने को डुबा देती है। कदर्यता ही मनुष्य की शक्तिका पराभव है; यहाँ ही अस्वास्थ्य, दारिद्र्य, अन्धसंस्कार है, यहाँ ही मनुष्य कहता है—"मैंने पतवार छोड़ दी है, अब भाग्य जो चाहे करे!" यहाँ ही परस्पर में केवल विच्छेद होता है, आरम्भ किया हुआ काम पूरा नहीं होता, और जिसे ही हम गढ़ देना चाहते हैं, वही बिखर जाता है। शक्तिहीनता ही यथार्थ श्रीहीनता है।

मैं जहाज के डेक के ऊपर इन लोगों के प्रचुर आमोद-आह्लाद के बीच भी यही देख पाता हूँ। इनके सभी खेलने-कूदने के बीच स्वभावतः एक विधान दिखाई पड़ता है। इसी कारण इनके आमोद-प्रमोद भी किसी तरह विशृङ्खलित नहीं हो उठते। ठीक समय पर यथोचित भद्र पहनावा प्रत्येक को ही पहिन कर आना पड़ता है। परस्परके साथ आलाप-परिचयके भीतर ही भीतर नियम छिपे

हुए हैं, उन नियमों की सीमा लांघने का उपाय नहीं है। विधान के ऊपर निर्भर करने के कारण ही इनका आमोद-आह्लाद ऐसे उच्छ्वसित प्रबल वेग से विपत्ति बचाकर प्रवाहित हो सकता है।

इस डेक के ऊपर और कोई नहीं है, केवल हमारे ही देश के लोग एकत्र हैं, यह दृश्य मन ही मन कल्पना किये बिना मैं नहीं रह सकता। पहले ही हमें दिखाई पड़ता है कि, कोई एकही व्यवस्था दो आदमियों को ठीक नहीं जँचती। हम लोगों का अभ्यास और आचरण एक दूसरे से मेल रखना नहीं जानते। यूरोपियों में एक जगह जहाँ वे स्वतन्त्र हैं, दूसरी जगह हां, वे लोग सबके हैं। जहाँ ये लोग स्वतन्त्र हैं, वह जगह इनकी प्राइवेट जगह है। वह स्थान प्रच्छन्न है। वहाँ सबका बे-रोक टोक अधिकार नहीं है और अनधिकार को सभी सहज ही में मानकर चलते हैं। वहाँ वे अपनी इच्छा और अभ्यास के अनुसार अपना व्यक्तिगत जीवन ढोते हैं। किन्तु जब ही वे वहाँ से बाहर चले आते हैं तभी सबके विधानों में पहुँच जाते हैं। उस स्थान में किसी तरह भी वे अपने प्राइवेट को नहीं खींच लाते। इन दोनों विभागों के सुस्पष्ट रहने के कारण ही परस्पर मिलना-जुलना इन लोगों के लिए सहज और सुश्रृङ्खलित है। हम लोगों में यह विभाग न रहने के कारण सब ही गड़बड़ हो जाता, है कोई कहीं भी सीमा मानना नहीं चाहता। हमें यह डेक मिला होता तो अपनी जरूरत के अनुसार हम चलते। गठरी-मोटरी जहाँ-तहाँ फैला रखते। हममें से कोई दातून करते, कोई जहाँ खुशी बिछौना बिछाकर रास्ता रोककर सोते रहते, कोई हुक्के में पानी फेरने लगते और चिलम को उलट कर राख और जली तमाखू जिस किसी जगह पर ढाल देते, कोई नौकर से खुब जोरदार शब्द समेत रगड़ रगड़ कर तेल की मालिश कराते रहते। लोटा-

टोरा चीज-सामान कहाँ क्या पड़ा रहता इसका ठिकाना ही नहीं
लता, और पुकारने-बुलाने, चिल्लने-चीखने का अन्त ही नहीं
हता। इसमें यदि कोई नियम और शृङ्खला लाने की चेष्टा मात्र
ो करता तो इस हालत में हम अपना अत्यन्त अपमान अनु-
व करते और वहाँ क्रोध-रोष की घड़ी आ जाती। उसके बाद
सरे आदमी को लिखने-पढ़ने, काम काज की जरूरत हो सकती
, अथवा कभी कभी अवसर पाने की इच्छा हो सकती है, इस
म्बन्ध में किसी को चिन्ता कभी नहीं रहती। एकाएक दिखाई
ड़ता है कि, जिस पुस्तक को मैं पढ़ रहा था, उसे कोई दूसरा
कर पढ़ रहा है, मेरा दूरबीन पाँच आदमियों के हाथोंहाथ
म रहा है उसे मेरे हाथ में लौटा देने का किसी को होश नहीं
। अनायास ही मेरे टेबिल के ऊपर से मेरा खाता लेकर कोई
ख रहा है, बिना बुलाये कमरे में प्रवेश कर बातें करने लगा है
ौर रसिक व्यक्ति समय-असमय का विचार किये बिना ऊंचे
र में गाना गा रहा है, गले में स्वर मधुरता का अभाव रहने
भी जरा भी संकोच अनुभव नहीं कर रहा है, जहाँ जो चीज
जाती है वह वहीं पड़ी ही रह जाती है, यदि हम फल खाते हैं तो
के छिलके और बीज डेक के ही ऊपर बिखरे पड़े रहते हैं और
टा-कटोरा चादर-मोजा गलाबन्द हजार बार ढूँढ़ने-खोजने में
दिन बीत जाता है।

इससे परस्पर की केवल असुविधा ही होती है, यही बात
ीं है, सुख, स्वास्थ्य और सौन्दर्य चारो तरफ से अन्तर्धान हो
ते हैं। इससे आमोद-आह्लाद भी निर्विघ्न नहीं होते और काम-
ाज की तो बात ही नहीं है। जो शक्ति कर्म के बीच नियमों को
ानकर सफल होती है, वही शक्ति आमोद-आह्लाद के बीच भी
ियमों की रक्षा करके उन्हें सरस और सुन्दर बना देती है।

योद्धा जिस तरह स्वभावतः ही अपनी तलवार को प्यार कर उसे धारण करता है, शक्तिमान उसी तरह आन्तरिक प्रीति के साथ नियमों की रक्षा करता है। क्योंकि, यही है उसका अस्त्र। शक्ति यदि नियमों को नहीं मानती तो वह अपने को ही व्यर्थ बना देती है।

शक्ति यह जो नियम को मानती है? वह केवल नियम को मानने के लिए नहीं, अपने को ही मानने के लिए है। और शक्ति हीनता जब नियम को मानती है, तब वह नियम को ही मानती है, तब वह भय से ही, लोभ से ही हो, या केवल चिराभ्यास को जड़ता के कारण हो, नियम को घुटने टेककर शिरोधार्य कर लेती है। किन्तु जहाँ वह बाध्य नहीं है, जहाँ केवल अपने ही लिए नियम को स्वीकार करना पड़ता है, दुर्बलता वहाँ ही नियम को धोखा देकर अपने को धोखा देती है! वहाँ ही उसका सारा कुर्श्री भी यदृच्छाकृत है।

जिस देश में मनुष्यों को बाहरी शासन चलाता आया है, वहाँ ही मनुष्य की स्वाधीन शक्ति के प्रति मनुष्य ने श्रद्धा नहीं की है, और राजा गुरु और शास्त्रने युक्ति के बिना मनुष्य को अपने हित-साधन में बल-पूर्वक लगा दिया है, वहाँ ही मनुष्य आत्मशक्ति के ही आनन्द से नियम-पालन की स्वाभाविक प्रवृत्ति से वंचित हुआ है। मनुष्य को बाँध कर काम कराने का एक बार अभ्यास कराने से ही, बन्धन काट कर फिर उससे कोई काम नहीं मिलता। इसीलिए जहाँ हम नियम मानते हैं वहाँ दास की तरह मानते हैं, जहाँ नहीं मानते वहाँ दास की तरह ही धोखा देते हैं। इसीलिए जब हमारे समाज का शासन था तब जलाशयों में जल पाठशालाओं में शिक्षा, धर्मशालाओं में आश्रय सहज ही में मिलता था, जब सामाजिक वाह्य शासन शिथिल हो गया है तब हम

लोगों को रास्ता नहीं है, घाट नहीं है, जलाशय नहीं है, साधारण का अभाव दूर करने और लोक हित साधन करने की कोई स्वभाविक शक्ति कहीं भी उद्बोधित होकर काम नहीं कर रही है। या तो हम लोग दैव की निन्दा कर रहे हैं, या सरकार बहादुर की मुँह ताक रहे हैं।

किन्तु इन सब विषयों में कौन कार्य है और कौन कारण है, यह ठीक तौर से बताना कठिन है। जो लोग बाहरी नियम को बेरोकटोक शृङ्खला बनाकर पहिनते हैं, बाहर का नियम उन्हीं लोगों को बाँधता है। जो लोग अपनी शक्ति की प्रबलता से नियम को किसी तरह भी अन्धभाव से स्वीकार नहीं कर सकते, वे ही अपने आनन्द से अपने नियम को उद्भावित करने का अधिकार पा जाते हैं। नहीं तो, इससे अधिकार को हाथ में उठा देने से ही इसका व्यवहार नहीं किया जाता। स्वाधीनता बाहर की वस्तु नहीं है, भीतर की वस्तु है, इसलिए जैसे किसी से माँगकर पाने का उपाय नहीं है। जब तक अपनी स्वभाविक शक्ति से हम लोग उस स्वाधीनता को नहीं पाते तब तक तरह तरह के आकारों में बाहर का शासन हमारी आँखों में पट्टा बाँध कर और गले में रस्सी बाँधकर चलाते ही रहेंगे। तब तक हम मुँह से चाहे जो भी कहें, काम के समय आप ही आप जहाँ ही सुयोग पावेंगे वहाँ ही दूसरों के प्रति अनुशासन प्रवर्तित करना चाहेंगे। राजनैतिक अधिकार पाते समय यूरोपीय इतिहास के वचन मुँह से निकालेंगे, और समाजनैतिक गृहनैतिक क्षेत्र में जो बड़े हैं वे कनिष्ठों के और जो प्रबल है, वे दुर्बलों के अधिकार को संकुचित करते रहेंगे। हम लोग जब किसी की भलाई करना चाहेंगे, तब अपने ही मत के अनुसार अपने ही खास नियमों के अनुसार। जिसकी भलाई करना चाहते हैं उसका

उसके अपने नियमों के अनुसार भला होने देने का साहस हम लोग नहीं करते। इसी तरह हम लोग दुर्बलता को अस्थि-मज्जा के बीच पीसते रहते हैं, फिर भी बलवान के अधिकार को हम बाहरी तरफ से स्वप्न में प्राप्त दैव सम्पत्ति की तरह प्राप्त करना चाहते हैं।

इसी लिए परम वेदना के साथ देख रहा हूँ, जहाँ ही हम सम्मिलित होकर कोई काम करने लगे हैं, जहाँ ही अपने नियम के अनुसार अपनी किसी संस्था को चलाने का सुयोग हमें मिला है, वहां ही पग-पग पर विच्छेद और शैथिल्य प्रवेश कर सभी को क्षार-खार करते जा रहे हैं, बाहर के किसी शत्रु के हाथ से नहीं, किन्तु अन्तर की इस शक्तिहीनता और श्रीहीनता से अपने को बचाना ही है हम लोगों की एक मात्र समस्या। जो नियम मनुष्य के गले का हार है उसको पैरों का बेड़ी बनाकर हम न पहिनेंगे, यह बात हम लोगों को एक दिन पूरे मन से कहनी पड़ेगी। यह बात स्पष्ट रूप से जान लेनी पड़ेगी कि, सत्य को जब हम अन्तर के साथ मान लेते हैं, तभी वह है आनन्द, बाहर से जब मानते हैं तो वह है दुःख। अन्तर में सत्य को मानने की शक्ति जब नहीं रहती, तभी बाहर उसका शासन प्रबल हो उठता है। इस कारण हमें चाहिये कि बाहर को ही धिक्कार देकर अपने को अपराध से निष्कृति देने की चेष्टा न करें।

१०

लन्दन में

समुद्र की बारी खतम हो गयी। अन्तिम दो दिन प्रबल वेग से हवा बहती रही। उससे समुद्र के आन्दोलन के समान तालों से हम लोगों का आभ्यन्तरिक आलोड़न चलने लगा। मैंने सोचकर देखा, इसमें समुद्र का अपराध नहीं है, कप्तान का ही दोष है। जिस दिन पहुँचने की बात थी, उसके दो दिन बाद मैं पहुँचा हूँ। वरुण देव ने अवश्य ही इस दुर्बल हृदय वाले यात्री के लिए ठीक तरह हिसाब करके आँधी-हवा की व्यवस्था कर रक्खी थी—किन्तु मनुष्य का हिसाब ठीक नहीं रहा।

मार्सेलस् से एक दौड़ में पैरिस पहुँच कर एक दिन के लिए साँस लेने का अवसर मिला। शरीर से समुद्र का नमक साफ करके मैंने जमीन के हाथ में आत्म-समर्पण कर दिया। स्नानाहार के बाद एक मोटर पर चढ़कर पैरिस के रास्ते-रास्ते एक बार हुहु करता हुआ चक्कर लगा आया।

बाहर से देखने से मालूम होता है, पैरिस समस्त यूरोप का क्रीड़ा-गृह है। यहाँ रंगशाला का प्रदीप कभी नहीं बुझता चारों तरफ आमोद-प्रमोद का विराट आयोजन रहता है। मनुष्य को प्रसन्न करने के लिए सुन्दरी पैरिस नगरी की कितनी सजावट-

बनावट है। यही बात केवल मनमें आती है, मनुष्य को खुश करने का काम सहज में पूरा कर डालने की कोई चेष्टा सफल नहीं हो सकती।

जब संसार में राजाओं का एकाधिपत्य था, तब प्रमोद का चूड़ान्त था केवल राजा के ही घर में। अब सभी मनुष्य राजा हैं। समस्त मनुष्यों का यह विलास-भवन कैसी बड़ी चीज है। इसके लिए कितने ही दास दिन-रात मिहनत करके मर रहे हैं, इसकी सीमा नहीं है। इसके लिए प्रति-दिन कितने जहाजों कितनी रेलगाड़ियों पर लादकर पृथ्वी के कितने दुर्गम देशों से उपकरण आ रहे हैं, उसका ठिकाना नहीं है।

इस मनुष्य-राजा का आमोद ऐसा प्रकाण्ड, ऐसा विचित्र हो उठा है कि, इसकी तुलना आलसो-विलासी के प्रमोद के साथ करने की इच्छा नहीं होती। यह है प्रबल चित्त का प्रबल आमोद-जो सहज ही में सन्तुष्ट नहीं होना चाहता, इसको खुश करने का साधन दुःसाध्य है। बहुत से लोग भोग करते-करते और बहुत से लोग भोग को जुटाते-जुटाते इस प्रमोद-पारावार में डूब कर मर रहे हैं, किन्तु तो भी, मोटे तौर से उसके अन्दर से मनुष्य की जो एक विजयी शक्ति की मूर्ति दिखाई पड़ रही है, उसकी अवज्ञा हम नहीं कर सकते।

रविवार को कैले से समुद्र पार करके मैं डोबर पहुँच गया। वहाँ अंग्रेज यात्री के साथ जब मैं रेलगाड़ी पर चढ़ गया तब मन में एक भारी आराम मालूम हुआ। जान पड़ा आत्मायजनोंके बीच आ गया हूँ। मैं अंग्रेजों की भाषा तो जानता हूँ। मनुष्य की भाषा तो बत्ती की तरह है। यह भाषा जितनी दूर फैलती है, उतनी दूर मनुष्य का हृदय आप ही अपने को प्रकाशित करता हुआ चलता है। अँग्रेजों की भाषा जभी पाता रहा हूँ, तभी अँग्रेजों का मन पाता रहा हूँ। जो बात जानी जाती है, उसी में आनन्द मिलता

है। फ्रान्स में मेरे लिए केवल आँखों की जानकारी थी, किन्तु हृदय की जानकारी से मैं वंचित था—इसी कारण आनन्द में बाधा हो रही थी। डोवर में कदम रखते ही मुझे मालूम हुआ मेरी वह बाधा कट गयी, जहाँ मैं खड़ा हो गया, वहाँ मैं केवल मिट्टी के ऊपर खड़ा हो गया, ऐसी बात नहीं है, मनुष्य के हृदय में मैं प्रवेश कर गया।

बहुत दिनों के बाद मैं लन्दन आया। उस बार भी लन्दन के रास्ते में यथेष्ट भीड़ मैंने देखी थी, किन्तु अब मोटरगाड़ी का एक नया उपसर्ग जुट गया है। इससे शहर की व्यस्तता और भी प्रबल भाव से मूर्तिमान हो उठी है। मोटर-रथ, मोटर विश्वम्वह (अग्निवास) मोटर-मालगाड़ी लन्दन की नाड़ी-नाड़ी में सैकड़ों धाराओं में दौड़ती हुई चल रही हैं। मैं सोचता हूँ, लन्दन के सभी रास्तों के भीतर से केवल मात्र यह चलने का वेग परिमाण में क्या ही भयानक प्रकाण्ड है। जिस मन के वेग की यह बाह्य मूर्ति है यह भी कैसो भीषण है। देश-काल को लेकर क्या ही प्रचंड वेग से ये लोग खींचा-तानी कर रहे हैं। रास्ते से पैदल जो लोग चल रहे हैं प्रति दिन उनकी सतर्कता तीव्रतर होती जा रही है। मन दूसरी जो कुछ भी बात क्यों न सोचता रहे, उसके साथ-साथ बाहर की इस विचित्र गति-विधि के साथ उसे प्रतिक्षण समझौता करके चलना पड़ेगा। हिसाब की भूल होने से ही विपत्ति है। हिंस्र पशु के हाथ से छुटकारा पाने के प्रयास में हरिण की सतर्कता-वृत्ति जैसी प्रखर हो उठती है, चारों तरफ व्यस्तता की भिड़की खाते-खाते यहाँ के मनुष्यों की सतर्कता वैसी ही असाधारण तीक्ष्णता पा रही है। शीघ्र देखने, शीघ्र सुनने और शीघ्र सोचकर कर्तव्य निश्चित करने की शक्ति केवल

ही बढ़ती जा रही है। देखने, सुनने और सोचने में जिसको समय लगता है, वही यहाँ पिछड़ जायगा।

धीरे-धीरे मित्रों के साथ भेंट-मुलाकात हो रही है। जो यत्न और प्रेम मिल रहा है वह विदेशी के हाथ से पा रहा हूँ, इस कारण यह मेरे लिए दुगुना मूल्यवान होता जा रहा है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का कितना निकटस्थ है, यह दूरत्व के बीच से ही निविड़तर अनुभव किया जाता है।

इस बीच मैं एक दिन 'नेशन' पत्र के मध्याह्न-भोज में निमंत्रित हुआ था। 'नेशन' यहाँ के उदार मत वालों का प्रधान साप्ताहिक पत्र है। इंग्लैण्ड में जो सब महात्मा स्वदेश और विदेश, स्वजाति और परजाति को स्वार्थपरता के झूठे बटखरे से तौल कर बिचार नहीं करते, जो लोग अन्याय को किसी बहाने कहीं आश्रय देना नहीं चाहते, जो लोग सभी मानवों के अकृत्रिम मित्र हैं, नेशन उनकी ही वाणी ढोने के लिए नियुक्त है।

नेशन पत्र के सम्पादक और लेखक सप्ताह में एक दिन मध्याह्न भोज में एकत्र होते हैं। यहाँ वे लोग भोजन करते-करते बातचीत करते हैं और भोजनोपरान्त अगले सप्ताह के निबन्धों के विषय पर आलोचना करते रहते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं कि, ऐसे प्रथम श्रेणी के समाचार-पत्र के लेखक सभी पाण्डित्य और दक्षता में असाधारण व्यक्ति है। उस दिन इन लोगों के आलोचना-भोज में स्थान पाकर मुझे बहुत ही आनन्द प्राप्त हुआ।

इन लोगों के बीच बैठकर मुझे बारम्बार केवल यही बात याद पड़ने लगी कि, ये सभी जानते हैं कि हम मेंसे प्रत्येक का ही एक सच्चा दायित्व है ये लोग केवल वाक्य-रचना ही नहीं कर रहे हैं, इनका प्रत्येक निबन्ध ब्रिटिश साम्राज्य-

नौका की पतवार को दायें-बायें कुछ न कुछ खिंचाव दे ही रहा है
ऐसी अवस्था में लेखक लेखों में अपने समस्त चित्त का प्रयो
किये बिना रह नहीं सकते। हमारे देश के समाचार-पत्रों
इसकी कोई जरूरत नहीं रहती, हम लोग लेखक से किसी
दायित्व का दावा नहीं करते, इस कारण लेखक की शक्ति
सम्पूर्ण आलस्य त्याग नहीं करती, धोखा दे कर काम पूरा क
डालती है। इस लिए हमारे सम्पादक लोग लेखकों की शिक्ष
और सतर्कता की कोई आवश्यकता नहीं देखते, जैसे-तैसे लोग
जो भी मन में आता है लिखते हैं और पाठक उन्हें बिना
विचार के पढ़ते रहते हैं, हम लोग सत्य-क्षेत्र में जुताई नहीं क
रहे हैं, इस कारण हमारी मंजरियों में शस्यअँश अति सामान्य
दिखाई पड़ता है। मन का खाद्य पूरा-पूरा नहीं जुटने पाता।

अपने देश में राजनैतिक और अन्यान्य विषयों पर
वाली आलोचना सभा मैं देख चुका हूँ। उसमें बात की अपेक्ष
गले का जोर कितना अधिक रहता है! यहाँ कैसे प्रशान्त भाव
से और कैसे प्रणिधान के साथ तर्क वितर्क चलने लगे। मत भेद
से विषय को बाधा न देकर उसको आगे ही बढ़ा दिया गया
अनेक मिलकर काम करने का अभ्यास इन लोगों में कितना
सहज हो गया है, यह बात मैं इस क्षण काल में ही समझ सका
इन लोगों का काम महत्वपूर्ण है, फिर भी काम की प्रणाली में
अनावश्यक संघर्ष और अपव्यय का लेशमात्र नहीं है। इनका
रथ प्रकाण्ड है, उसकी गति भी तेज है, किन्तु उसका पहिया
अनायास ही घूमता है, और जरा भी शब्द नहीं करता।

११

मित्र

लन्दन पहुँच कर मैंने एक होटल में आश्रय लिया; मालूम हुआ कि, यहाँ के लोकालयों की ड्योढ़ी पर यातायात के मार्ग में बैठ गया हूँ। अन्दर क्या हो रहा है उसकी खबर मुझे नहीं मिलती—लोगों के साथ आलाप-परिचय भी नहीं होता—केवल देखता हूँ, मनुष्य जा रहे हैं और आ रहे हैं। इतना ही दिखाई पड़ता है, मनुष्यों की व्यस्तता की सीमा परि-सीमा नहीं है, इतनी अधिक आवश्यकता किस बात की है, यह हम लोग समझ नहीं सकते। इस प्रचण्ड व्यस्तता का धक्का किस जगह जाकर लग रहा है, उससे नुकसान हो रहा है, या उन्नति हो रही है, उसका कोई हिसाब कोई रख रहा है या नहीं, मैं कुछ भी नहीं जानता। टनटन करके घंटा बजता है आहार के स्थान में जाकर देखता हूँ—एक-एक छोटे टेबिल को घेर कर दो-तीन करके स्त्री-पुरुष चुप-चाप भोजन कर रहे हैं, बर्तन हाथ में लेकर दीर्घकाय परिवेशक गम्भीर चेहरे से, तेज हाथ से परोसता जा रहा है। कोई खाते-खाते ही अखबार पढ़ने का काम पूरा कर रहा है, उसके बाद घड़ी खोलकर एक बार ताक कर, टोपी माथे पर रख, हन्-हन् करता हुआ चला जा रहा है—कमरा खाली होता जा

रहा है। केवल भोजन के समय कई बार कई मनुष्य एकत्र होते हैं, उसके बाद कौन कहाँ जाता है, कोई उसका ठिकाना नहीं रखता। मुझे कोई प्रयोजन नहीं है, सबकी देखादेखी झूठ-मूठ घड़ी खोलकर देख लेता हूँ, फिर घड़ी बन्द करके पाकेट में रख देता हूँ। जब भोजन का भी समय नहीं है, सोने का भी समय नहीं है, तब होटल में रहना मानो जमीन पर रक्खी हुई नाव की सी हालत रहना है—उस समय यदि वहाँ रहना पड़ता है तो किस लिए वहाँ हूँ इसको कोई कैफियत सोचने पर समझ में नहीं आती। जिन लोगों के वासस्थान नहीं हैं, केवल कर्म स्थान ही हैं, उनको होटल शोभा देता है। जो लोग हमारी तरह एक दम अनावश्यक मनुष्य हैं उनके लिए वास करने का आयोजन ऐसी बनावटी किस्म का होने से काम नहीं चलता। खिड़की खोलकर देखता हूँ, जन-स्रोत विभिन्न दिशाओं को दौड़ता जा रहा है। मन ही मन सोचता हूँ, ये लोग मानो किसी एक अदृश्य कारीगर के हथौड़े हैं। जो चीज तैयार होती जा रही है, वह भी मोटे तौर से अदृश्य है; बहुत बड़े इतिहास का कारखाना है, लाखों-लाखों हथौड़े द्रुत प्रबल वेग से लाखों-लाखों जगहों पर गिर रहे हैं। मैं उस इंजन के बाहर खड़ा रह कर देखता रहता हूँ—भूख की स्टीम से परिचालित सजीव हथौड़े दुर्निवार वेग से चल रहे हैं, यही मैं देख पाता हूँ।

जो लोग विदेशी हैं, पहले यहाँ आने पर यहाँ के इतिहास विधाता के इस अति विपुल मनुष्य-कल का चेहरा ही उनकी निगाह में पड़ता है। कैसा दाह है, कैसा शब्द है, क्या ही चक्कियों का घुमाव है। इस लंदन शहर की सभी गतियों को सभी कर्मों को एक बार आँखें बन्द करके मन में सोच कर देखने की चेष्टा करता हूँ—कैसा भयंकर अध्यवसाय है, यह अविश्राम वेग किस

को लक्ष्य पर आघात कर रहा है, और किस अव्यक्त को प्रकाश की तरफ जगाता जा रहा है।

किन्तु मनुष्य को केवल इस यन्त्र की दृष्टि से देखने से तो दिन नहीं बीतता। जहाँ वह मनुष्य है, वहाँ उसका परिचय न मिले तो मैं क्या करने के लिए आया? किन्तु मनुष्य जहाँ यन्त्र बना हुआ है वहाँ दृष्टि पड़ना जितना सहज है, मनुष्य जहाँ मनुष्य है, वहाँ उतना सहज नहीं है। भीतर का मनुष्य आपही आकर वहाँ बुलाकर न ले जाय तो प्रवेश नहीं मिलता। किन्तु वह तो थियेटर का टिकट खरीदने की सी बात नहीं है। वह दाम देने से नहीं मिलती, वह बिना मूल्य की चीज है।

मेरे सौभाग्य से एक सुयोग उपस्थित हो गया। एक मित्र से मेरी मुलाकात हो गयी। बगीचे में गुलाब जिस तरह विशेष जाति का फूल होता है, मित्र वैसे ही एक विशेष जाति का मनुष्य है। कोई कोई मनुष्य ऐसे हैं जो संसार में मित्र रूप में ही जन्मग्रहण करते हैं। मनुष्य को संगदान करने की शक्ति उनमें असामान्य और स्वाभाविक रहती है। हम सभी संसार में किसी को न किसी को प्यार करते हैं, किन्तु प्यार करने पर भी मित्र बनाने की शक्ति हम सबमें नहीं है। मित्र बनाने के लिए संग प्रदान करना पड़ता है, अन्यान्य सभी दानों की तरह इस दान का भी एक खजाना रहना आवश्यक है, केवल इच्छा ही यथेष्ट नहीं है। रत्न से ज्योति जिस तरह सहज ही में छिटक पड़ती है वैसे ही विशेष शक्तिशाली मनुष्य के जीवन से संग आप ही बिखरता रहता है। प्रीतिसे, प्रसन्नतासे, सेवा से शुभ इच्छाओं और करुणापूर्ण अन्तर्दृष्टि से जड़ित यह जो सहज सङ्ग है, इसकी तरह दुर्लभ सामग्री संसार में अति अल्प ही है। कवि जैसे अपने आनन्द को भाषा में व्यक्त करते हैं, वैसे ही जो लोग

स्वभावमित्र हैं वे मनुष्यों में अपने आनन्द को प्रतिदिन के जीवन में दिखाते रहते हैं।

मैं यहाँ जिस चित्र को पा गया उनमें यह आनन्द पाने और यह आनन्द देने की निर्विघ्न शक्ति है। ऐसे मित्रसाधन से धनी मनुष्य को पाने की सुविधा यह है कि, एक को पा जाने से ही अनेक को पाया जाता है क्योंकि, इन लोगों के जीवन का सब से प्रधान संचय है मन के लायक मनुष्य संचय।

ये हैं एक सुविख्यात चित्रकार, ये थोड़े दिन पहले थोड़े दिन के लिए भारतवर्ष गये थे। उन्हीं थोड़े से दिनों में इन्होंने भारतवर्ष का मर्म स्थान देख लिया है। हृदय से देखना, आँखों से ही देखने की तरह है—यह विश्लेषण का काम नहीं है, इसलिए इसमें अधिक समय नहीं लगता। हृदय दृष्टि के सम्बन्ध में कितने ही जन्मान्ध भारतवर्ष में जीवन बिता रहे हैं, उन लोगों ने हमारे देश के उस आलोक को नहीं देखा, जिसको देख लेने से और सभी को अनायास ही देखा जाता है। जिनको देखने योग्य आँखें हैं उनका थोड़े दिनों का परिचय अन्धे के चिर-जीवन के परिचय से अधिक है।

भारतवर्ष में इनके साथ थोड़ी देर तक मेरी बातचीत हुई थी इनकी सहृदयता सदा ही ऐसी बेरोकटोक प्रकट होती है कि उसी समय मेरा चित्त उनके प्रति विशेष रूप से आकर्षित हो गया था। इनके साथ घनिष्ठ भाव से परिचित हो सकूँगा इस लोभने यूरोप यात्रा के समय मुझे सबसे अधिक खींच लिया था।

इनके साथ भेंट होते ही एक ही क्षण में होटल की ड्योढ़ी को मैं पार कर गया—फिर कोई बाधा देने वाला नहीं रहा। भीड़ की ठेला-ठेली में जहाँ तमाशा अच्छी तरह दिखाई नहीं पड़ता, वहाँ पिता जैसे छोटे बच्चे को कंधे पर चढ़ा कर बैठने की

जगह बना देते हैं, वैसे ही लन्दन शहर ने दो-एक स्थानों में अपने ऊँचे कन्धों पर खाली जगह रख छोड़ी है, उसके जो सब लड़के भीड़ के लोगों के माथे के ऊपर से और भी दूरी तक-दृष्टि फैलाना चाहते हैं, उनके लिए इन स्थानों की विशेष आवश्यकता है। लंदन का हैम्पस्टेडहीथ इसी श्रेणी का एक ऊँचा पहाड़ी मैदान है, लंदन ने मानो यहाँ अपने को अपने से ऊपर उठा रखा है। यहाँ शहर के पत्थर-हृदय का एक प्रान्त अब भी नवीन और श्यामल है, और उसके भयंकर आफिसों की भीड़ के बीच इस जगह में अब भी उसके खुले आकाश की खिड़की के पास अकेला बैठने का आसन बिछा हुआ है।

मेरे मित्र के मकान के पिछवाड़े की तरफ ढालू पहाड़ के ऊपर एक छोटा-सा बगीचा है। आनन्दित छोटे से बच्चे के आँचल की तरह फूलों के सौन्दर्य से यही छोटा-सा बाग भर उठा है। उसी बगीचे की तरफ मुँह किये उनके बैठकखाने से सटा हुआ एक लम्बा बरामदा बहुसंख्यक फूलों के गुच्छों से आमोदित गुलाब की लताओं से अर्ध-प्रच्छन्न हो गया है। उसी बरामदे में अपनी रुचि से जब एक पुस्तक हाथ में लेकर मैं बैठ जाता हूँ, तो उसके बाद पुस्तक पढ़ने की कोई आवश्यकता मुझे नहीं मालूम होती। इनके दो छोटे बच्चों और छोटी लड़की में बाल्य-काल की चिरानन्द-मय नवीनता का उच्छ्वास देखना मुझे बहुत अच्छा लगता है। अपने देश के लड़कों के साथ तुलना करके मैं एक गहरा अन्तर देख पाता हूँ। मुझे मालूम होता है, मानो हम लोग अत्यन्त पुराने युग के मनुष्य हैं, हमारे देश के बच्चे भी मानों कहीं से उसी पुरानेपन का बोझ पीठ पर लादे इस संसार में आ जाते हैं। वे भले आदमी हैं, उनकी गति-विधि संयत रहती है, उनकी बड़ी-बड़ी काली दोनों आखें करुणा से भरी रहती हैं—वे बहुत

प्रश्न नहीं पूछते। अपने मन में ही मानों वे मीमांसा करते रहते हैं। और इन सब लड़कों ने संसार के नये युग के समाज में जन्म लिया है, वे जीवन की नवीनता के आस्वाद से मतवाले हो उठे हैं, उन्हें सब कुछ ही सोच विचार करके पूरा कर लेना पड़ेगा, इसी कारण सभी जगहों में उनके चंचल पैर दौड़ना चाहते हैं और सभी चीजों पर ही उनके चंचल हाथ जा पड़ते हैं। इसमें संदेह नहीं कि हमारे देश के लड़कों में भी एक स्वाभाविक चंचलता है, किन्तु उसके साथ ही साथ एक अचंचलता का भाराकर्षण मानों उन्हें बहुत अधिक परिणाम में स्थिर बना रखा है। इनमें वह अदृश्य भार न रहने के कारण, इनका जीवन तरुण झरने की तरह कल शब्दों से नृत्य करते-करते मानो केवल झिकझिक करता जा रहा है।

हमारे मित्र की गृहिणी भी मित्रवत्सला हैं। अपने पति को विस्तृत मित्र मण्डली के सम्बन्ध में उन्हें स्त्री का कर्तव्य-पालन करना पड़ता है। उनकी सेवा करना, देखभाल करना उनके साथ जो आत्मीयता का सम्बन्ध है उसे हृदयग्राही बना देना, रोग में शोक में उनका समाचार जानना और उन्हें सान्त्वना देना, यह उनके सांसारिक कर्तव्य का एक प्रधान अंग है। यह तो केवल स्वजन-समाज आत्मीयता नहीं हैं, यह है मित्र समाज की आत्मीयता— इस बृहत् आत्मीयता के मर्मस्थल में सती स्त्री का जो स्थान है वह इस देश में खाली नहीं है।

पहले ही बता चुका हूँ, मेरे यह मित्र स्वभावमित्र हैं—इनकी मित्रता की प्रतिमा असाधारण है। इसके लिए मित्रता नामक वस्तु सत्य होने के ही कारण इनको विशेष यत्न से मित्र चुन लेना पड़ता है। जो मनुष्य सच्चा आर्टिष्ट नहीं है, वह जिस तरह केवल नियम-रक्षा के लिए कमरा सजाने के उपलक्ष्य से जैसे-तैसे चित्र

मढ़वाकर दीवारों पर लटकाकर किसी तरह शून्य स्थान को भर सकता है, किन्तु जो मनुष्य सच्चा आर्टिष्ट है—चित्र जिसके लिए सत्य वस्तु है, वह स्वभावत: ही फालतू चित्रों से कमरे को उस तरह भर नहीं सकता, वह अपनी स्वाभाविक विचार-बुद्धि से चित्र चुन लेता है। इन्होंने भी उसी तरह केवल फालतू परिचित वर्ग के सामाजिक भाव के द्वारा अपने को आक्रान्त नहीं किया है। इनके साथ जिन लोगों का सम्बन्ध है, सभी इनके मित्र हैं और सभी गुणी हैं तथा विशेष रूप से समादर के योग्य हैं।

ऐसी ही वरेण्य मित्र मण्डली को जो अपने चारो तरफ पकड़ कर रख सकते हैं, उनको विशेष गुणों की आवश्यकता रहती है यह बात कहना निष्प्रयोजन है। ये रसज्ञ हैं। मधुमक्खी जिस तरह फूल के मधुकोष का गुप्त रास्ता अनायास ही ढूँढ़ सकती है, ये भी वैसे ही रस के मार्ग में अनायास ही प्रवेश करते हैं। अच्छी वस्तु को बिलकुल ही द्विधाहीन बल के साथ पकड़ सकते हैं। अच्छा लगने और अच्छा बोलने के सम्बन्ध में बहुत से लोगों में ही एक भीरुता रहती है, पीछे कोई गलती करके बेइज्जत न हो जाऊँ—इस भय को वे लोग छोड़ नहीं सकते। इसलिए अच्छे को स्वागत करके लेते समय वे लोग बराबर दूसरे लोगों के पीछे पड़ जाते हैं। इनकी बोधशक्ति में एक यथार्थ प्रबलता मौजूद है, इस कारण ही इनमें वह भय नहीं है। इसी तरह वे केवल मधु-मक्खी की तरह केवल मधुरस का ही संग्रह करना जानते हैं ऐसो बात नहीं है, उसके साथ ही फूल को भी प्यार करने की शक्ति इनमें है। वे भोगी नहीं हैं, वे प्रेमी हैं। इसीलिए वे ग्रहण भी करते हैं, दान भी करते हैं।

अपरिचय से परिचय का रास्ता बहुत लम्बा है। उस दुस्साध्य पथ को पार करने लायक समय मेरे पास नहीं था।

मेरी शक्ति भी थोड़ी है। बराबर कोने में रहने का अभ्यास रहने के कारण अपने जोर से भीड़ को ठेलठाल कर इच्छित स्थान में पहुँचने की चेष्टा भी मैं नहीं कर सकता इसके सिवा अंग्रेजी भाषा के सदर दरवाजे की चाभी मेरे हाथ में नहीं है, मुझे केवल ही घेरे को लाँघकर चलना पड़ता है—उस तरह रास्ता चलना एक व्यायाम है—उस तरह अपने स्वभाव को बचाकर चला नहीं जा सकता।

अपने को निर्विघ्नता से परिचित करने की शक्ति न रहने से दूसरे का सहज परिचय पाना सम्भव नहीं होता। इस कारण कुछ दिन यहाँ की मोटर-गाड़ियों के दानव रथ के पहियों से अपने को बचाने की चेष्टा से थक कर अन्त में यहाँ के ही रास्ते से मैं अपने उस नदी-बाहु पाश से घिरे हुए बंगदेश के शरत् रौद्रालोकित आमन् धान के खेतों के किनारे लौट जाता था। ऐसे ही समय में प्रवेश किया मित्र ने, परदा उठा दिया, मैंने देखा आसन बिछा है, मैंने देखा बत्ती जल रही है, विदेशी के अपरिचय का भारी बोझ बाहर रख कर, राहगीर का धूलिलिप्त वेश छोड़कर, एक ही क्षण में भीड़ के बीच से मैं निभृत स्थान में जा पहुँचा।

१२

कवि येट्स

भीड़ के बीच भी कवि येट्स छिपने नहीं पाते। वे एक विशेष व्यक्ति के रूप में पहचान लिये जाते हैं। जिस प्रकार वे अपना लम्बा शरीर लिये सभी के ऊपर उठ जाते हैं, वैसे ही उनको देखने से मालूम होता है मानो सभी विषयों में उनमें एक प्रचुरता विद्यमान है, एक स्थान पर सृष्टिकर्त्ता की सृजनशक्ति के वेग ने प्रबल होकर इनको मानो फव्वारे की तरह चारो तरफ की समतलता से विपुल भाव से उच्छ्वसित बना दिया है। इसी लिए शरीर-मन और प्राणों में ये ऐसे अत्यधिक से प्रतीत होते हैं।

इंग्लैण्ड के वर्तमान काल के कवियों का काव्य जब मैं पढ़ने लगता हूँ, तब इनमें से बहुतेरे ही मुझे ऐसे मालूम होते हैं कि ये लोग विश्वजगत् के कवि नहीं हैं, ये लोग साहित्य-जगत् के कवि हैं। इस देश में बहुत दिनों से काव्यसाहित्य की सृष्टि चल रही है, चलते-चलते काव्य की भाषा, उपमा, अलंकार, भंगी बहुत अधिक एकत्र हो गयी है। अन्त में यह हालत हो गयी है कि, कवित्व के लिए काव्य के मूल प्रस्रवन में मनुष्य के न जाने से भी काम चल सकता है, कवि लोग मानो उस्ताद बन

गये हैं, अर्थात् प्राणों से गाने का आवश्यकताबोध ही उनका चला गया है, अब केवल गान से ही गान की उत्पत्ति चल रही है। जब व्यथा से बातें नहीं निकलतीं, बातो से ही बातें निकलती हैं. तब बातों की कारीगरी धीरे-धीरे जटिल और निपुणतर होने लगती है, तब वह आवेग प्रत्यक्ष और गंभीर भाव से हृदय की सामग्री न बनाने के कारण सरल नहीं होता, वह अपने को आप ही विश्वास नहीं करता इस कारण वह बलपूर्वक अतिशय की तरफ दौड़ता रहता है, नवीनता उसके लिए सहज न होने के कारण ही अपनी अपूर्वता सिद्ध करने के लिए उसे केवल ही अद्भुत की खोज में दौड़ना पड़ता है।

वर्डस्वर्थ के साथ स्विनबर्न की तुलना करके देखने से हो मेरी बात समझना सहज होगा। जो लोग जगत् के कवि नहीं हैं, कवित्व के कवि हैं, स्विन-बर्न उन लोगों में प्रतिभा में अग्रगण्य हैं। बातों की नृत्यलीला में इनमें ऐसा असाधारण निपुणता है कि उसका आनन्द उन्हें मतवाला बना चुका है। ध्वनि-प्रतिध्वनि के तरह-तरह के रंगीन सूतों से इन्होंने चित्र-विचित्र रूप से घोरतर चमत्कारी रंगों के चित्र बनाये हैं। वे सब आश्चर्य-जनक कीर्तियाँ हैं, किन्तु विश्व के ऊपर इनकी प्रशस्त प्रतिष्ठा नहीं है।

विश्व के साथ हृदय का प्रत्यक्ष संघात होने से वर्डस्वर्थ का काव्य-संगीत बज उठा था। इसी लिए वह ऐसा सरल है। सरल होने से वह सहज नहीं है। पाठकों ने सहज में उसे ग्रहण नहीं किया है। कवि जहाँ प्रत्यक्ष अनुभूति से काव्य लिखते हैं, वहाँ उनकी लिखी बातें पेड़ों के फूल-फलों की तरह आप ही सम्पूर्ण होकर विकास पाती हैं। वे अपनी व्याख्या आप ही नहीं करतीं अथवा अपने को मनोरम या हृदयंगम बना देने के लिए वे

अपने प्रति कोई जबरदस्ती नहीं कर सकती। वे जैसे हैं, उसी रूप में सामने दिखाई पड़ती हैं। उनको ग्रहण करना, उनको भोग करना पाठकों की ही गरज है।

अपनी अनुभूति और उस अनुभूति के विषय के बीच किसी मध्यस्थ पदार्थ का प्रयोजन और व्यवधान न रख कर कोई-कोई मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं, विश्वजगत् और मानव-जीवन के रस को वे असन्दिग्ध भरोसे के साथ अपने हृदय की भाषा में प्रकट कर सकते हैं, वे ही अपने समसामयिक काव्य-साहित्य की समस्त कृत्रिमता को अतिक्रम करते रहते हैं।

एक दिन अंग्रेजी साहित्य की कृत्रिकता के युग में बर्न्स ने जन्म ग्रहण किया था। उन्होंने अपने समग्र हृदय से अनुभव किया था और उसे प्रकट किया था। इसी लिए उस समय के बँधे नियमों के घेरे को भेद कर कहीं से मानों स्काटलैण्ड के खुले हृदय ने काव्य-साहित्य के बीच आकर संकोच छोड़कर आसन ग्रहण कर लिया।

आजकल के काव्य-साहित्य के युग में कवि येट्स ने जो विशेष समादर प्राप्त कर लिया है, उनका भी मौलिक बात यही है। उनकी कविता ने उनके समसामयिक काव्य की प्रतिध्वनि के मार्ग में न जाकर कवि के हृदय को प्रकट किया है। वह जो 'अपने हृदय, का उल्लेख मैंने किया है, उस बात को जरा समझ लेना होगा। हीरे का टुकड़ा जिस तरह आकाश के आलोक को प्रकाशित करने से ही अपने को प्रकाशित करता है वैसे ही मनुष्य का हृदय केवल अपनी व्यक्तिगत सत्ता से प्रकाश ही नहीं पाता, वहाँ वह अन्धकारपूर्ण है। जभी वह अपने से अपनी अपेक्षा बड़े को प्रतिफलित कर सकता है, तभी उस अलोक से वह प्रकाश पाता है और उस आलोक को वह प्रका-

शित करता है। कवि येट्स के काव्य में आयरलैण्ड का हृदय व्यक्त हुआ है।

इस बात को और भी कुछ साफ तौर से दे देना उचित है। एक ही सूर्य का प्रकाश तरह-तरह के बादलों पर पड़ा है, किन्तु बादलों की अवस्था और स्थिति के अनुसार उसमें भिन्न-भिन्न रङ्ग पड़ गये हैं। किन्तु इन रङ्गों की भिन्नता परस्पर के विरुद्ध नहीं है। वे अपनी-अपनी विचित्रता के द्वारा ही सबके साथ सभी मिलने में समर्थ हो रहे हैं। रङ्गी हुई रूई जो जान से बादल की नकल करके भी मिल नहीं सकती।

उसी तरह आयर्लैण्ड ही कहो, स्काटलैण्ड ही कहो, या किसी दूसरे देस की ही बात कहो, वहाँ के जन-साधारण के चित्त में विश्वजगत् का प्रकाश इस तरह पड़ता है जिससे वह एक विशेष रङ्ग डाल देता है। विश्वमानव का चिदाकाश इसी प्रकार विचित्र रङ्गों से सुन्दर बनता जा रहा है।

कवि केवल भाव के आलोक को प्रकाशित करते हैं ऐसी बात नहीं है। वे जिस देश के मनुष्य हैं उसी देश के हृदय से रङ्ग देकर उसको जरा विशेष भाव से प्रकाशित करते हैं। मैं ही नहीं कहता कि सभी ऐसा कर सकते हैं, किन्तु जो कर सकते हैं वे धन्य हैं। हमारे देश में वैष्णव पदावली बंगाली काव्य रूप में ही विश्व-काव्य है, वह विश्व की चीज विश्व को दे रही है, किन्तु उसी में वह अपना एक रस मिलाती जा रही है, अपने एक रूप के पात्र में उसको भरती जा रही है।

संसार के रण क्षेत्र में जिसका व्यवसाय लड़ाई करना है उसको कवच पहनना पड़ता है, उसको संसार के समस्त आवरण आच्छादन ग्रहण करना पड़ता है, नहीं तो पग-पग पर चारो तरफ से उसको आघात लगता है। किन्तु अपने को संपूर्ण रूप

से प्रकाशित करना जिसका काम है, आवरण का अभाव ही उसकी यथार्थ सज्जा है। कवि येट्स के साथ बात-चीत करके मुझे वही बात याद पड़ रही थी। यही एक मनुष्य हैं जो अपने चित्तकी उन्मुक्त स्पर्शशक्ति से जगत् को ग्रहण कर रहे हैं। मनुष्य तरह तरह की शिक्षाओं से अभ्यासों के जरिये अनुकरणों के सहारे जिस तरह चारो तरफ देखते हैं, यह देखना वैसा देखना नहीं है।

जभी कोई मनुष्य इस तरह खुले तौर से जगत को देखता है और उसकी खबर देता है तभी हम देख पाते हैं कि मनुष्यकी पुरानी अभिज्ञता के साथ उसका एक मेल है, वह असबद्ध नहीं है। जिन लोगों ने सरल दृष्टि से देखा है, उन सभी ने इसी तरह देखा है। वैदिक कवियों ने भी जलस्थल में प्राण को देखा है, हृदय को देखा है। नदी, मेघ, ऊषा, अग्नि, आंधी वैज्ञानिक सत्य रूप में नही है, इच्छा-मय मूर्ति रूप में उन लोगों के पास इन्होंने आत्म-प्रकाश किया है, मनुष्य के जीवन में सुख दुःख की जो अभिज्ञता प्रकट होती है, उसी ने मानों तरह तरह के अद्भुत छद्मवेशों में भूलोक में, और स्वर्गलोक में अपनी लीला का बिस्तार किया है। जिस तरह हमारे चित्त में उसी तरह समस्त प्रकृति में। हँसने-रोने की वेदना, माँगने-पाने और खोने का खेल, जिस तरह हमारे इस छोटे हृदय में है वैसे ही वही खूब बड़े रूप में इस महाकाव्य के आलोक अन्धकार के रङ्गमंच पर है। वह इतना बड़ा है कि उसे हम लोग एक साथ देख नहीं सकते, इस कारण हम जल देखते हैं, मिट्टी देखते हैं, किन्तु समूचे के भीतरी विपुल खेल को हम नहीं देख पाते। किन्तु मनुष्य जब शिक्षा और अभ्यास की पट्टी के अन्दर से नहीं देखता, जब वह अपना समस्त हृदय-मन-जीवन देकर देखता है, तब वह

एक ऐसी वेदना की लीला को सभी स्थानों में अनुभव करता है कि, उसको गल्पों के द्वारा रूपकों के द्वारा प्रकट करने के सिवा और कोई उपाय ही नहीं रह जाता। मनुष्य जब संसारिक बातों में अपना ही खूब बड़ा एक परिचय पा रहा था—इसे एक तरह से समझ रहा था कि समस्त जगत् में जो नहीं है, वह उसके अपने हृदय में भी नहीं है, जो उसमें है, वही विपुल आकार में विश्व के बीच है—तभी वह कवि की दृष्टि, अर्थात् हृदय की दृष्टि जीवन की दृष्टि से सबको देख सका था, वह आँखों की पुतली और स्नायुशिरा और मस्तिष्क की दृष्टि नहीं है। उसकी सचाई तथ्यगत नहीं है, वह भावगत है, वेदना-गत है। उसकी भाषा भी वैसी है, वह है सुर की भाषा, रूप की भाषा। यही भाषा मानव-साहित्य में सबसे पुरानी भाषा है। फिर भी, आज भी जब कोई कवि विश्व को अपनी वेदना से अनुभव करते हैं तब उनकी भाषा के साथ मनुष्य की पुरानी भाषा का मेल मिलता है। इस कारण वैज्ञानिक युग में मनुष्य को पौराणिक कहानी किसी दूसरे काम में नहीं लगती, केवल कवि के व्यवहार के लिए वह पुरानी नहीं हुई। मनुष्य की नवीन विश्वानुभूति उस कहानी के मार्ग से गमना गमन करती हुई उसी जगह अपना चिह्न रख गयी है! अनुभूति की वही नवीनता जिसके चित्त को उद्बाधित करती है वह उस पुराने पथ को स्वभावतः ही व्यवहार में लाने लगता है।

कवि येट्स ने आयर्लैंड के उसी पुराने मार्ग से अपनी काव्य-धारा को प्रवाहित किया है। यह उनके लिए पूर्ण रूप से स्वाभाविक हो गया था, इसी लिए इस मार्ग में वे ऐसा असाधारण ख्याति उपार्जन कर सके हैं। वे अपने जीवन के द्वारा इस जगत् को स्पर्श कर रहे हैं; आँखों के द्वारा, ज्ञान के द्वारा नहीं। इसी

लिए जगत् को वे केवल वस्तु-जगत् रूप में नहीं देखते। इसके पर्वत पर, मैदान में ये ऐसी एक लीलामय सत्ता का अनुभव करते हैं जो ध्यान के ही द्वारा गम्य है। आधुनिक साहित्य में अभ्यस्त प्रणाली को बीच से उसको प्रकट करने में तत्पर होने से उसका रस और प्राण नष्ट हो जाते हैं. क्योंकि आधुनिकता वस्तु असल में नवीन नहीं है, वह जीर्ण है; बराबर व्यवहार करने से उसमें जंग लग गयी है, सर्वत्र उसकी आहट नहीं मिलती, वह राख से ढकी आग की तरह है। यह आग नामक चीज राख से अधिक पुरानी है, तो भी वह नवीन है, राख आधुनिक तो जरूर है किन्तु वही है जरा। इसीलिए सर्वत्र ही मैं देख पाता हूँ, काव्य आधुनिक भाषा से बचकर चलना चाहता है।

सभी जानते हैं, कुछ दिनों में आयर्लैंण्ड में एक स्वादेशिकता की वेदना जाग उठी है। इङ्गलैण्ड के शासन ने सब तरफ से ही आयर्लैंण्ड के चित्त को अत्यन्त दबा रखा था, इसी लिए यह वेदना एक समय ऐसी प्रबल हो उठी थी। बहुत दिनों से इस वेदना ने प्रधानतः पोलिटकल विद्रोह के रूप में ही अपने का प्रकट करने की चेष्टा की है। अन्त में उसके साथ ही साथ एक और चेष्टा दिखाई पड़ी। आयर्लैण्ड अपने चित्त की स्वतंत्रता हृदयङ्गम करके उसे ही प्रकट करने को तैयार हो गया।

इस उपलक्ष्य में हमें अपने देश की बात याद पड़ जाती है। हमारे देश में भी बहुत दिनों से पोलिटकल अधिकार पाने की एक चेष्टा शिक्षित मण्डली में प्रबल हो उठी थी। यह देखा गया कि, इस चेष्टा के जो लोग नेता थे, उनमें से बहुतों का ही देश के भाषा-साहित्य आचार-व्यवहारके साथ सम्पर्क नहीं था। देश के जनसाधारण के साथ उनका सम्बन्ध नहीं था, यह हम कह सकते हैं। देश की उन्नति करने के लिए उनको जो कुछ भी

कारवाई थी, वह सबही अँग्रेजी भाषा और अँग्रेज गवर्मेंट के साथ थी। देश के लोगों को साथ लेकर देश का कोई काम करने की तरफ उनकी दृष्टि जरा भी नहीं थी।

किन्तु सौभाग्यवश, कम से कम बंग देश में, हम लोगों ने साहित्य के सहारे अपने चित्त को हृदयंगम करना आरम्भ किया था। बंकिम चन्द्र का प्रधान गौरव यह है कि, उन्होंने बंग साहित्य में एक ऐसे युग का प्रवर्तन किया, जब बंगाली अपनी बातें अपनी भाषा में व्यक्त कर आनन्द और गौरव अनुभव कर सके थे। उसके पहले हम लोग स्कूल के बालक थे। शब्दकोश और व्याकरण मिलाकर अँग्रेजी स्कूल के एकसरसाइज लिखते थे, अपनी भाषा और अपने सहित्य की अवज्ञा करते थे। हठात् बंगदर्शन के आविर्भाव के साथ साथ अपना एक शक्ति को हमने देख लिया। हम लोगों का भी एक साहित्य हो सकता है और वही यथार्थ भाव से हमारी क्षुधा दूर कर सकता है, इसे हम लोगों ने अनुभव किया, यही जो आरम्भ हो गया, यहीं इसका अन्त नहीं हुआ। इसके पहले आँखें बन्द करके हम लोगों ने कहा था, हमारे पास कुछ भी नहीं है, अबसे खोज होने लगी हमारे पास क्या है। बंगदर्शन में ही शुरू-शुरू में जिन्होंने कोंत और मिल को सिंहासन पर बिठाया था, वे ही लोग अन्त में देश के धर्म को ही वह राजासन प्रदान करने के लिए दलबद्ध होकर उद्योग करने में लग गये।

इस उद्यम का स्रोत विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में अब भी अग्रसर हो रहा है। राजसभा में भारतवर्षीय मंत्रियों की संख्या बढ़ानी होगी, हमारी इस इच्छा की पूर्ति होना राजा के हाथ में है, किन्तु हमारा मन स्वतन्त्र होकर अपने मार्ग से अपनी सफलताकी तरफ अग्रसर होगा, इस इच्छा का सफल होना हमारी अपनी शक्ति पर

निभर करता है। हममें से जो कोई जिस किसी तरफ अपनी चेष्टा से अपनी शक्ति को सार्थक बना सकेंगे वही देश की आत्म-शक्ति उपलब्धि को प्रशस्त कर देंगे। उस उपलब्धि का आनन्द ही हमारी उन्नतिपथ-यात्रा एक का मात्र सम्बल है।

शक्ति-उपब्धि के आरम्भ में जो प्रबल अहंकार जाग उठता हैं, उससे सत्य उपलब्धि में यथेष्ट बाधा पहुँचती है। वह हम लोगों को सिखाने की अपेक्षा अपने को भुला देने की ही तरफ ज्यादा झोंक देता है वह सच के साथ झूठ को समान मूल्य देकर सच को अपमानित करता है। वह यह बात भूल जाता है कि, हमारे पास क्या नहीं है, इसे सुनिर्दिष्ट रूप से जान लेने से ही हमारे पास क्या है इसकी सुस्पष्ट जानकारी होती है। वही सुस्पष्ट रूप से जान लेने से ही हमारे लिए शक्ति पाने का एक मात्र मार्ग है। अहंकार आत्म-उपलब्धि की सीमा को धुँधुला बनाकर ही हमें दुर्बलता और व्यर्थता की ओर ले जाता है। आत्म-गौरव की प्रतिष्ठा सत्य पर है। इस कारण अहंकार से वह किसी तरह भी नहीं मिलता। सत्व के दुर्ग प्राचीर पर टकरा टकरा कर अहंकार जितना ही परास्त होता रहता है, हम उतना ही अपने को जानते रहते हैं।

हमारे देश की तरह आयर्लैण्ड में भी अपनी चित्तशक्ति को स्वतन्त्रता देने के लिए एक उद्योग कुछ दिनों से काम कर रहा है। उस उद्यम के प्रथम आकाश में स्वभावतः ही बहुत फेनिलता दिखाई पड़ती है, वह बहुधा अपना वजन ठीक न रख सकने के कारण अद्भुत रूप से हास्यकर हो उठती है। आयर्लैण्ड में भी वैसा ही हुआ था, यह आइरिश विख्यात लेखक जार्ज मूर की Hail and Farewell नामक पुस्तक पढ़ने से कुछ कुछ समझ में आता है।

जो भी हो, आयर्लैण्ड ने अपना चित्त स्वातंत्र्य प्रकट करने की चेष्टा में अपनी भाषा कथा कहानी और पौराणिकता का अवलम्ब न करने का जो उद्योग किया था उस उद्योग में एक-एक असाधारण मनुष्य की प्रतिभा अपना यथार्थ क्षेत्र पा चुका है। कवि येट्स उन्हीं लोगों में से एक हैं। ये आयर्लैण्ड की वाणी को विश्व-साहित्य में जययुक्त कर सके हैं।

येट्स जिस समय साहित्य क्षेत्र में आयर्लैण्ड की जय पताका ढो कर ले आये, उसके कुछ समय पहले से आयर्लैण्ड में साहित्य का उद्यम दुर्बल हो गया था। उस समय आयर्लैण्ड में पोलिटकल विद्रोह का समय दूर होकर पोलिटकल टेढ़ी चाल का समय आ गया था, उन दिनों देश में भावों की शक्ति को ठेल कर कूट बुद्धि की ही प्रधानता स्थापित हो चुकी थी।

येट्स के कोई समालोचक लिख रहे हैं—ऐसे समय युद्धदूत ने एक बार आकर दर्शन दिये, इस बार दुर्दमनीय हृदया-वेग के विद्युद्विकाश के साथ साथ किसी सामाजिक प्रलय युग की वज्रध्वनि सुनाई नहीं पड़ी। जो सर्वजयी मानवात्मा अपने को आप ही उपलब्धि कर सके हैं, और मनुष्य के जगत् में जिसकी गुप्त अंगुलियाँ सभी बड़े-बड़े तोड़ने-बनाने के रहस्य के पास जाकर उसे स्पर्श कर रही हैं, उसी आत्मतृप्त मानवात्मा की विराट विपुल शक्ति ने आकाश पर अधिकार कर लिया। अपने बीच मानव-हृदय का पूर्णतर बन्धन-मोचन प्रकट करके येटस् ने फिर एक बार गम्भीर-तर और सूक्ष्मतर शक्ति के साथ विद्रोह की वाणी को जाग्रत कर दिया। इस बार बाहर का कोलाहल नहीं, इस बार कवि ने मानवात्मा के अन्तर की बात कही—वही है आयर्लैण्ड की बात और सभी मनुष्यों की बात। उन्होंने गहराई के साथ विचार किया और पचास वर्ष पहले जो

कवित्व रीति प्रचलित थी, उसे छोड़ दिया। किन्तु उन्होंने रचना की जिस प्रणाली को अन्त में सम्पूर्णता प्रदान की, वह है पुराने कवियों की रीति का ही उत्कर्षसाधन। उनके कवित्व ने प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सौन्दर्य के प्रति दृष्टिप्रयोग किया है और वह ध्वनिमाधुर्य के अन्तरतर संगीत को आयत्त कर सका है। जिन सब चिन्ता-सामग्रियों को उन्होंने अपने प्रथम काल के अतुलनीय गीति-काव्य में गूँथ दिया है वह है उनके पूर्ववर्ती पूज्य पितामह लोगों से प्राप्त उत्तराधिकार; उसने इस प्रकाशमान विश्व-प्रकृति के रहस्य में प्रवेश कर प्रकृति मनुष्य और देवता के परम ऐक्य का उद्धार किया है।

समालोचक लिखते हैं—

It was with the Publication of the wanderings of oisin——in 1889, if I remember aright——that yeats sprang into the front rank of contemporary poets, and threatened to add to the august company of the immortals. In the Qualities by which he succeeded——an exquisitely delicate music, intensity of imaginative conviction, intimacy with natural and (dare I say ?) supernatural manifestations—he was typically celtic.

यह (imaginative conviction) बात येट्स के सम्बन्ध में अत्यन्त सत्य है। कल्पना उनके लिए लीला की सामग्री नहीं है, कल्पना के आलोक में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसकी सत्यता को वे जीवन में ग्रहण कर सके हैं। अर्थात्, उनके हाथ में कल्पनावस्तु केवल कवित्वव्यवसाय का एक हथियार मात्र नहीं

है, वह उनके जीवन की सामग्री है, इसके द्वारा ही विश्व-जगत्‌से वे अपनी आत्मा का खाद्य-पानीय संग्रह कर रहे हैं। उनके साथ एकान्त में जितनी ही बार मेरा वार्तालाप हुआ है, उतनी बार मैंने यही बात अनुभव की है। वे जो कवि हैं, यह उनकी कविता पढ़कर जान लेने का सुयोग अभी तक मुझे पूरे तौर से नहीं मिला है, किन्तु वे कल्पनालोकित हृदय के द्वारा अपने चारों तरफ को प्राणवान् रूप से स्पर्श कर रहे हैं, यह उनके पास आते ही मैं अनुभव कर सका हूँ।

१३

स्पटफोर्डब्रुक

मेरी किसी रचना को पढ़कर किसी ने पसन्द किया है, इससे खुश होना मैं लज्जा का विषय नहीं समझता। वस्तुतः, मैं खुश नहीं हुआ, यह बात कहने की तरह अहंकार और कुछ नहीं है। जभी किसी पुस्तक को छपवाया है, तभी उसमें एक आशा प्रच्छन्न रही है कि यह पुस्तक लोगों को अच्छी लगेगी। यदि उसे अहंकार कहा जायगा तो उस पुस्तक को छपवाना ही अहंकार है।

मैंने किसी एक अवकाश के समय अपनी कुछ कविताओं और गानों का अनुवाद अँग्रेजी गद्य में करने की चेष्टा की थी। मैं अंग्रेजी लिख सकता हूँ, यह अभिमान मुझे किसी दिन भी नहीं रहा, इस कारण अंग्रेजी रचना में वाहवाही लेने की तरफ मेरा लक्ष्य नहीं था। किन्तु, अपने आवेग को विदेशी भाषा के मुख से फिर जरा नये सिरे से ग्रहण करने का जो सुख है, उसकी धुन मेरे ऊपर सवार हो गयी थी। मैं एक दूसरा पहनावा पहन कर अपने हृदय का परिचय ले रहा था।

मेरे विलायत आने के बाद ये अनुवाद जब मेरे मित्र के हाथ में पड़ गये, तो उन्होंने विशेष समादर के साथ उन्हें ग्रहण किया। और उसके कई खण्ड नकल करवा कर यहाँ के कुछ

साहित्यकों को पढ़ने के लिए दिया। मेरे इस विदेशी हाथ की अँग्रेजी में मेरे ये लिखे विषय उनको अच्छे लगे हैं। सम्भवतः उसका एक कारण यह है कि, अँग्रेजी-रचना की मेरी शक्ति इतनी प्रबल नहीं है जिससे मैं अपने अनूदित विषय से अँग्रेजों के विदेशी रस मात्र को बिल्कुल ही नष्ट कर सकूँ।

स्टपफोर्ड ब्रुक के हाथ में मेरे इन अनुवादों की एक नकल पड़ गयी थी। इसी उपलक्ष्य में उन्होंने एक दिन मुझे डिनर में निमंत्रित किया था। वे वृद्ध हैं, सम्भवतः उनकी उम्र सत्तर के ऊपर चली गयी है। उनके पैर की रक्तप्रणाली में प्रदाह की तरह कुछ हो गया है, चलना उनके लिए कष्टकर है, वही पैर एक कुर्सी पर रख बैठे हुए हैं। बुढ़ापा किसी-किसी मनुष्य को परास्त करके पदानत करता है, फिर किसी-किसी मनुष्य के साथ सन्धि स्थापित करके उसके साथ मित्र की तरह रहता है। इनके शरीर-मन में बुढ़ापा अपनी जय-पताका फहरा नहीं सका है। आश्चर्य-जनक है इनकी नवीनता। मुझे बार बार मालूम होने लगा, बूढ़े में जब यौवन दिखाई पड़ता है, तभी उसको सबकी अपेक्षा अच्छी तरह देखा जाता है। क्योंकि वह यौवन ही सच्ची चीज है, वह शरीर के रक्तमांस के साथ जीर्ण होना नहीं जानता, वह रोग ताप को अपने जोर से ही उपेक्षा कर सकता है। उनके शरीर का आयतन विपुल है, उनकी मुखश्री सुन्दर है, केवल उनके पीड़ित पैरों की तरफ देखने से मालूम हुआ, अर्जुन जब द्रोणाचार्य के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुए थे तब प्रणाम-निवेदन स्वरूप प्रथम तीर उनके पैरों पर उन्होंने गिराया था, वैसे ही बुढ़ापे ने अपने युद्धारम्भ का प्रथम तीर इनके पैरों के पास फेंक दिया है।

विधाता ने जो जीवन इनको दिया है, उसको सभी तरफ से इन्होंने आनन्द की सामग्री बना दी है। चित्र, कविता, प्रकृति का

सौन्दर्य और लोकालय में मानव-जीवन की विचित्र लीला, सबके प्रति ही उनके चित्त की उत्सुकता प्रबल है। चारों तरफ के जगत् को यह स्पर्शानुभूति, यह रस ग्रहण करने की शक्ति उनकी उम्र बढ़ने के साथ घट नहीं गयी है। ग्रहण की यह शक्ति ही तो यौवन है।

इनका धर्मोपदेश और इनको काव्यसमालोचना मैं पहले ही पढ़ चुका हूँ। उस दिन मैंने देखा, चित्र अंकित करने में भी इनका विलास है। इनके अंकित प्राकृतिक दृश्य के चित्र कमरे के कोने में अनेक जमा हो गये हैं। ये सभी मन की कल्पना से अंकित हैं। मेरे चित्रशिल्पी मित्र ने इन चित्रों को देख कर विशेष रूप से प्रसंशा की। ये सब चित्र प्रदर्शनी में देने के लिए या लोक मनोरंजन करने के लिए हैं, ऐसी बात नहीं है, ये बिल्कुल ही मन की लीला मात्र हैं। यही बात मैं सोच रहा था; इनकी उम्र बहुत हो गयी है, बहुत लिखना भी पड़ता है, शरीर भी पूरा स्वस्थ नहीं है, किन्तु इससे भी इनके उद्यम का अन्त नहीं हुआ है। जीवनी-शक्ति की प्रबलता इनके कामों के साथ भी खेल करने का अवकाश पाती है। वस्तुतः इस खेल से ही प्राण का परिचय मिलता है। आवश्यकीय काम के चारों तरफ एक मुक्ति के क्षेत्र में ही मनुष्य का ऐश्वर्य है। इस देश में जिन लोगों ने प्रसिद्धि प्राप्त की है, उनमें से बहुतों में ही उसी को मैं लक्ष्य करता हूँ। वे लोग जिसे लेकर प्रधानतः नियुक्त हैं उनमें ही उनके जीवन की सारी जगह बिल्कुल ठसाठस भर नहीं गयी है, चारों तरफ थोड़ी सी खाली जगह है, वही है उन लोगों का विहार। खूब बड़े वैज्ञानिक को मैंने देखा है, उनका प्रधान शौक है चीन देश की चित्रकला। इन लोगों के जीवन के खजाने में वृद्धि का भाग बहुत अधिक रहता है। व्यवसाय इनमें से बहुतों के ही लिए एक अंश मात्र है। आफिस-घर इनके वासगृह का केवल एक कमरा है।

बहुत सीढ़ियों से ऊपर चढ़कर ऊपरी तल्ले पर एक छोटे से कमरे में इनके साथ भेंट हुई। बड़ी देर तक हम दोनों को ही एकान्त में बातचीत करने का अवकाश मिला था। उनकी बात चीत से मैं इतना समझ गया कि, ईसाई धर्म का बाह्य ढाँचा जिसे अंग्रेजी भाषा में (Creed) कहते हैं, उसकी जरूरत किसी-जमाने में भले ही रही हो, अब वह धर्म के विशुद्ध रसप्रवाह में बाधा पहुँचा रही है। मनुष्य का मन जब ही अपना आश्रय छोड़कर बढ़ उठता है, तब उस आश्रय को तरह उसका और कोई शत्रु नहीं रहता। इस देश में बहुतों का मन जो धर्म से विमुख हो गया है, उसका प्रधान कारण है, धर्म के प्रति यही बाहर का आयतन। उन्होंने मुझसे कहा—'तुम्हारी इन कविताओं में किसी धर्म के किसी क्रीड की कोई गन्ध नहीं है, इससे यह हमारे देश के लोगों के विशेष उपकार में लगेगी ऐसाही मेरा ख्याल है।'

बात ही बात में उन्होंने एक बार मुझसे पूछा, मैं पुनर्जन्म में विश्वास करता हूँ या नहीं। मैंने कहा, हमारे वर्तमान जन्म के बाहर की अवस्था के सम्बन्ध में कोई सुनिर्दिष्ट कल्पना मेरे मन में नहीं है और इस सम्बन्ध में चिन्ता करने की मैं आवश्यकता नहीं समझता। किन्तु जब चिन्ता करके देखता हूँ, तब मालूम होता है कि, यह कभी नहीं हो सकता कि, मेरी जीवनधारा के बीच यह मनुष्यजन्म बिल्कुल ही बेमेल की चीज है—इसके पहले भी ऐसा कभी नहीं था, इसके बाद भी ऐसा कभी नहीं होगा, जिस कारण से यह जीवन विशेष देह बनकर प्रकट हुआ है, वह कारण इसी जन्म में पहले आरम्भ होकर इसी जन्म में पूरा समाप्त हो गया। शारीरी जन्म पुनः पुनः प्रकाशित होते होते अपने को पूर्णतर बनाता जा रहा है, यही बात सम्भवपर मालूम होती है। किन्तु, पूर्व जन्म में कोइ मनुष्य पशु था और परजन्म में

भी वह पशुदेह धारण करेगा, यह बात भी मैं मन में नहीं ला सकता। क्योंकि, प्रकृति में एक अभ्यास की धारा दिखाई पड़ती है, उस धारा का हठात् अत्यन्त विच्छेद होना असंगत है। स्पफोर्ड ब्रुक ने कहा, वे भी जन्मान्तर में विश्वास करने को संगत समझते हैं। उनका विश्वास है कि, तरह तरह के जन्मों के भीतर से जब हम लोग एक जीवन-चक्र समाप्त करेंगे, तब हम लोगों के पूर्व जन्म की समस्त स्मृति सम्पूर्ण होकर जाग्रत हो जायगी। यह बात मेरे मन में जम गयी। मुझे मालूम हुआ, एक कविता पढ़ना जब हम लोग समाप्त कर डालते हैं, तभी उसके पूरे अंशका भाव परस्पर ग्रथित होकर हमारे मन में उदित होता है, समाप्त न करने से हरदम वह सूत्र नहीं मिलता। हममें से प्रत्येक एक अभिप्राय का अवलम्बन करके एक एक जन्म-माला को गूँथते हुए चल रहे हैं, गूँथना समाप्त होते ही बिल्कुल ही वह खतम हो जाती है ऐसी बात नहीं है, किन्तु एक बारी खतम हो जाती है। तभी समस्त को स्पष्ट रूप से हम ग्रहण कर सकते है।

यहाँ के जिन सब चिन्ताशील और भावुक व्यक्तियों से मेरी जान पहचान और बातचीत हुई है, सभी में मैंने एक चीज को लक्ष्य किया है, वे लोग अन्याय और अविचार को सचमुच ही ठेल रखना चाहते हैं। यह बात अत्युक्ति मालूम हो सकती है, किन्तु यह अत्युक्ति नहीं है। जो जाति बहुत दूर तक विस्तृत अधीन देश पर शासन करती है और उन सब अधीन देशों के साथ जिनके तरह तरह के स्वार्थ के सम्बन्ध जड़ित हैं, परजाति के सम्बन्ध में उनके न्याय-अन्याय का बोध मलिन हुए बिना रह नहीं सकता। दूसरी जाति को जितने दिन सम्भव हो सके अधीनस्थ बना रखना विविध कारणों से जिसे अपने लिए आवश्यक है, मानव स्वाधीनता के सम्बन्ध में उसका धर्मबोध कभी अक्षुण्ण नहीं रहता।

जिस शुभ बुद्धि के द्वारा मनुष्य स्वजाति की स्वतंत्रता को श्रेष्ठ मूल्य देता रहता है, दूसरों को अधीन रखने की इच्छा जितनी ही प्रबल होने लगती है मनुष्य उतनी ही अपनी शुभ बुद्धि को दुर्बल बनाने लगता है। फिर भी, यह शुभ बुद्धि ही जातीय उन्नति के लिए मनुष्य का चरम सम्बल है।

ऐसी अवस्था में जब यहाँ के मनीषी सम्प्रदाय में से एक दल को मैं ऐसा देख पाता हूँ जो जातीय स्वार्थपरता की अपेक्षा जातीय न्यायपरता का ही समादर करते हैं, तब मैं यही समझने लगता हूँ कि शरीर में एक तरफ व्याधियों का प्रवेश-द्वार भी जिस तरह खुला हुआ है वैसे ही दूसरी तरफ स्वास्थ्यतत्व भी उद्यम के साथ काम कर रहा है। जब तक यह चीज है तब तक आशा मौजूद है। इसी शुभ बुद्धि का यहाँ के भावुक लोगों में से बहुतों में अनुभव किया जाता है।

यहाँ भावों के क्षेत्र और कामों के कारखाने आस-पास ही हैं। यहाँ राष्ट्रनीति का सिंहासन और धर्मनीति की वेदी परस्पर निकटवर्ती हैं। इसीलिए दोनोंके सहयोग्य से यहाँ के दो पहियों का रथ चल रहा है। बीच-बीच में एक-एक समय ऐसा आता है, जब काम का धुँआ भाव की हवा को बिल्कुल काले रंग का बना देता है। तब यहाँ काव्य-साहित्य में भी पहलवानी-उछल की कूद से ताल ठोकने की आवाज ही समस्त संगीत को ढक देना चाहती है, तब हठात् देश के रक्त में Gingo विष प्रबल हो उठता है और उस आँख तरेरने के दिन लोग मनुष्य की उच्चतर-साधना को धर्मभीरु दुर्बल की कापुरुषता ही मान लेते हैं। किन्तु उस उन्मत्त विकार के समय भी धर्म-बुद्धि बिलकुल ही पतवार नहीं छोड़ती। इसीलिए बोअर-युद्ध के दिनों में भी यहाँ लोगों का एक ऐसा दल था, जिन्होंने समूचे देशके आक्रोश को छाती पर रोप

कर भी जयध्वजा को ऊपर उठा रखने की चेष्टा की थी। ये लोग ही देश के हाथ से मार खाकर भी, देशविद्वेषी अपवाद सहकर भी देश का पाप मिटाने के काम में अपराजित चित्तसे नियुक्त हैं।

किन्तु भारतवर्ष में अंग्रेजों का जो शासनतन्त्र है, वह बिलकुल ही घोरतर काम के क्षेत्र के बीच में है। उस काम के विष को शुद्ध करने के लिए उपयुक्त भाव की हवा वहाँ प्रबल नहीं है। इसी कारण यह विष भीतर ही भीतर संचित होता जा रहा है। जो अँग्रेज कम उम्र में किसी तरह एक कठिन परीक्षा पास करके वहाँ राज्य संचालन करने जाते हैं, वे बिल्कुल ही वहाँ की विषाक्त तप्त हवा में प्रवेश करते हैं। वहाँ क्षमता का मद अत्यन्त कड़ा रहता है, सलाम का मोह मज्जा में जड़ित हो जाता है, और प्रेस्टिज का अभिमान धर्म के सामने भी सिर झुकाना नहीं चाहता। फिर भी, वहाँ इंग्लैण्ड की उस भावुक मण्डली का संसर्ग नहीं है जो विकृति निवारण के लिए बड़े मन्त्रों की सर्वदा आवृत्ति कर सकते हों। इसी लिए भारतवर्षीय अंग्रेज हमारे चित्त को इस तरह ठेल रखता है। इसीलिए भारतवर्ष का बड़ा परिचय किसी तरह भी भारतवर्ष का अँग्रेज नहीं पाता। हम लोग उनकी दृष्टि में बहुत छोटे हैं। हमारा साहित्य, हमारा धर्मान्दोलन, हमारी स्वदेश-हितार्थ साधना उनकी धारणा में बिलकुल ही नहीं है। हम लोग उनके बाजार के खरीददार हैं, आफिस के क्लर्क हैं, बैरिस्टर मुहर्रिर हैं, अदालत के असामी फरियादी हैं। वे लोग पूरे मानव चित्त से हमें नहीं देखते, हम लोगों का भी पूरा मानव परिचय वे लोग नहीं पाते। इस अवस्था में शासन-संरक्षण काम की व्यवस्था सब ही खूब अच्छी हो सकती है किन्तु उसकी अपेक्षा बड़ी चीज नष्ट हो जाती है। क्योंकि मंगल तो शृंखला नहीं है, और मनुष्यों से कोई अच्छी वस्तु पा लेने से उसके साथ ही यदि

हम मनुष्य को भी न पावें तो दान को हम लोग समस्त मन प्राण देकर ग्रहण नहीं कर सकते। इस लिए वह दान न तो दाता को धन्य करता है, और न तो वह ग्रहीता को ही परितृप्त करता है।

१४

इङ्गलैण्ड का भावुक समाज

बाहर की भीड़ के बीच से मैं मानो अन्तर की भीड़ के अन्दर प्रवेश कर गया, ऐसा ही मुझे मालूम हुआ। इस देश के जो लोग लेखक हैं, जो लोग चिन्ता-शील हैं उनके सम्पर्क में मैं जितना ही आता गया उतना ही अनुभव करने लगा, इनकी चिन्ता के मार्ग में भावों की ठेला-ठेली अत्यन्त प्रबल है।

इन लोगों का समाज सबकी शक्ति को पूर्ण वेग से आकर्षण कर रहा है, बाहर के लोगों की दौड़-धूप, मोटर-सवारियों की हड़बड़ो से वह स्पष्ट ही दृष्टि में पड़ता है। किसी को समय नहीं है, झटपट काम पूरा करना होगा, यह समाज किसी को भी पीछे पड़ा रहने न देगा, जो जरा पीछे पड़ जायगा उसको ही हार मान लेनी पड़ेगी। सामने दौड़ने की इस भयंकर व्यग्रता को जब मैं देखता हूँ तब मैं मन ही मन सोचता हूँ, सामने वह कौन बैठा हुआ है। वह पुकारता है किन्तु दिखाई नहीं पड़ता। नील समुद्र की तरह बहुत दूर उसकी लहरी के ऊपर लहरी दिनरात हाथ उठा रही है, किन्तु पता नहीं कहाँ किस पर्वत-शिखर के गुहा-गह्वर से झरने पागल की तरह व्यस्त होकर -दायें बायें कंकड़ पत्थरों को किसी तरह ठेल-ठाल कर किसी का कोई ठिकाना पूछे बिना लम्बी साँस से दौड़ते चले जा रहे हैं।

बाहर के कर्म-क्षेत्र में यह जैसी पुकार है, बुलाहट और दौड़-धूप

है, चिन्ता के क्षेत्र में भी ठीक वैसी ही बात है। कितने ही हजार-हजार लोग लम्बी साँस लेकर चिन्ता करते हुए चले जा रहे हैं, इसका ठिकाना नहीं है। दैनिक समाचार-पत्रों में, साप्ताहिक पत्रों में, मासिक पत्रिकाओं में, त्रैमासिकों में धर्म-शालाओं में, मन की धारा लगातार बहती जा रही है। मानसिक शक्ति जिसकी जैसी है और जिस परिमाण में है, उसके समस्त के ऊपर खिंचाव पड़ गया है। चाहिये, और भी चाहिये, देश के मर्मस्थान से यही एक पुकार सर्वदा सर्वत्र पहुँच रही है। इतनी बड़ी एक पुकार में किसी से धीरज नहीं सहा जाता, क्षण काल चुप-ही रहने में मन घबड़ा उठता है। देश के इस मानस-भण्डार में जिस मनुष्य ने एक बार कोई न कोई चीज जुटा दी है, उसके लिए फिर छुटकारा नहीं है, उस मनुष्य के ऊपर और भी का तकाजा आ पड़ा, खजूर वृक्ष की तरह हर साल कटाव के बाद कटाव चलता रहता है, किसी दिन इसकी जरा कमी या रुकावट पड़ने से वह मुहल्ले भर के लोगों के लिए प्रश्न का विषय हो उठता है।

इसी लिए यहाँ का मनोराज्य यदि आँखों से देखने का विषय होता तो हम देख पाते सदर सड़क पर और गली में, आफिस के मुहल्ले में और सार्वजनिक पूजास्थान पर हड़बड़ी मच गयी है, भीड़ ठेल कर चलना कठिन है। वहाँ भी कोई पैदल चलता है, कोई मोटर गाड़ी चलाता है, कोई तो मजदूरी करता है, कोई महाजनी करता है किन्तु सभी बहुत ही व्यस्त हैं। भोर से लेकर आधी रात तक चलने-फिरने का अन्त नहीं है।

यह बात नयी नहीं। अपने देश के तन्द्रालस निस्तब्ध मध्याह्न में भी हम लोग आधी आँख बन्द करके अन्दाज लगा

सकते हैं, इस देश की चिन्ता के बाजार में क्या ही भयंकर कोलाहल और ठेलाठेली है। किन्तु उस भीड़ का दबाव जब अपने मन के ऊपर धक्का लगता है तब हम स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं कि, उसका वेग कितना है। इस देश में जो लोग मन का कारोबार करते हैं, उनके पास आने से उस वेग को समझने में देर नहीं लगती।

इन लोगों के साथ मेरा परिचय खूब अधिक दिनों का भी नहीं है, खुब अन्तरङ्ग भी नहीं है, क्षण काल की भेंट-मुलाकात मात्र है। किन्तु, उतने ही समय में एक बात को लक्ष्य करके मैं बारम्बार विस्मित हो गया हूँ, वह है इन लोगों के मन की तीव्रता। मन इलेक्ट्रिक प्रकाश के तारों की तरह सर्वदा मानों तैयार ही रहता है, बटन दबाने के साथ ही उसी क्षण वह जल उठता है। हम लोग अपने प्रदीप जलाने का काम, बत्ती बनाकर, तेल डालकर चकमक पत्थर रगड़ कर चलाते रहते हैं, विशेष कोई तकाजा नहीं रहता, इसलिए देर होने से कुछ भी नहीं बनता बिगड़ता। इसलिए हम लोगों का जैसा अभ्यास है, उसमें मेरे लिए इलेक्ट्रिक प्रकाश की यह क्षिप्रता सम्पूर्ण नवीन है।

वर्तमान काल के सु विख्यात लेखक वेल्स साहब के दो-एक नावेल और अमेरिका की सभ्यता के सम्बन्ध में मैंने एक पुस्तक पहले ही पढ़ी थी। इसी से मैं जानता था, इनकी चिन्ता-शक्ति इस्पात की तलवार की तरह जैसी झकझक करती है, वैसी ही वह तेज धार वाली भी है। मेरे मित्र ने जिस दिन इनके साथ एक डिनर में मुझे निमन्त्रित किया, उस दिन मेरे मन में एक तरह का भय-सा हो गया था। मुझे मालूम था, संसार में तेज बुद्धि नामक वस्तु से अवश्य ही बहुत काम होते हैं किन्तु उसका सम्पर्क शायद आराम का नहीं है।

जो भी हो, उस दिन शाम को इनके साथ बहुत देर तक आलाप-परिचय हुआ। पहले ही मैं आश्वस्त हो गया, जब दिखाई पड़ा कि यह मनुष्य सजारु जाति का नहीं है। पूरा मुलायम है। मैंने देख लिया, इनकी प्रखरता चिन्ता में है किन्तु प्रकृति में नहीं है। असल बात है कि मनुष्य के प्रति इनके मन में आन्तरिक सहानुभूति है, अन्याय के प्रति विद्वेष है और मनुष्य की सर्वजनीन उन्नति के प्रति अनुराग है। उसके रहने से ही मनुष्य का मन केवल मात्र चिन्ता की आतिशबाजी करके सुख नहीं पाता। इस देश में वही एक बहुत बड़ी चीज है, मनुष्य यहाँ सर्वदा प्रत्यक्ष-गोचर बना हुआ है, मनुष्य के सम्बन्ध में यहाँ उत्सुकता का अन्त नहीं है। मनुष्य के प्रति उदासीनता का अभाव रहने के ही कारण इन लोगों का मन प्रचुर शस्य-शाली बन गया है। क्योंकि, केवल बीज और जमीन से फसल अच्छी नहीं होती, जमीन में सर्वदा रस रहना चाहिये। मनुष्य के प्रति मनुष्य का खिंचाव ही वह चिरन्तन रस है, जिसके जरिये मनकी सब तरह की फसलें बहुत ही पर्याप्त हो उठती हैं। अपने देश में मैंने बहुत से शक्तिशाली मनुष्यों को देखा है, मनुष्य के साथ उन लोगों के हृदय का सम्पर्क सुगभीर और सर्वदा विद्यमान न रहने के ही कारण, वे लोग अपने साध्यको पूर्ण रूप से साधित नहीं कर सकते। मनुष्य उनसे उतने अधिक परिमाण में माँग नहीं रहे हैं, इसीलिए मनुष्य का धन वे लोग पूरे परिमाण में बाहर नहीं निकाल सकते। जहाँ लोगों की आबादी बहुत कम है, वहाँ के लोग अपनी नितान्त आवश्यकता से अधिक कुछ भी पैदा नहीं करते, और उसका भी बहुत कुछ नष्ट हो जाता है, फेंक दिया जाता है। हम लगों का निवास भी वैसे ही विरल स्थान में है मनुष्य छान चुन कर हमारे हृदय-मन को आकर्षित नहीं

कर रहा है। इसके लिए हम लोग चिन्ता कर सकते हैं किन्तु वह चिन्ता आलस्य दूर करके अपने को प्रकट नहीं कर सकती। बहुतों के पास हृदय है किन्तु वह हृदय बाल-बच्चों भतीजे-भानजों के बाहर मिहनत करने का क्षेत्र नहीं पाता।

जो भी हो, वेल्स के साथ बातें करते समय मैं इतना समझ गया कि इनकी चिन्ताशीलता और रचना-शक्ति का अवलम्ब मनुष्य है, इस लिए वह शिकारी के आखेट खेलने की इच्छा की तरह केवल शक्ति का खेल नहीं है। इसीलिए इनकी चिन्ता की जो तीक्ष्णता है वह छुरी की तीक्ष्णता की तरह नहीं है, वह है सजीव तीक्ष्णता, वह है दृष्टि की तीक्ष्णता, उसके साथ हृदय है, जीवन है।

और एक चीज देखकर मैं बारबार आश्चर्य में पड़ गया था, यह बात मैं पहले ही बता चुका हूँ। वह है इन लोगों की मनन करने की तीक्ष्णता। मेरे मित्र के साथ वेल्स की जितनी देरतक बातचीत होती रही, उतनी देर तक पग-पग पर बातचीत का प्रवाह उज्ज्वल चिन्ता के कणों से चमक उठने लगा। बातों के साथ बातों के स्पर्श से आपही आप चिनगारियाँ निकलती रहती हैं, क्षण भर भी देर नहीं लगती। इससे स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि इन लोगों का मन तैयार ही रहता है। ये लोग जो चिन्तन करने में लगे हुए हैं, ऐसी बात नहीं है, चारों तरफ के धक्के इन्हें सोचने में नियुक्त कर रहे हैं, इसीलिए इनका मन दौड़ते दौड़ते भी सोच सकता है और सोचते-सोचते भी बातें करता जाता है। इन लोगों के व्यक्तिगत मन के पीछे समूचे देश का मन जगा हुआ है, चिन्ता की तरंगें बातों के कल्लोल केवल ही विभिन्न दिशाओं से तरह-तरह के आकारों में एक दूसरे के चित्त को आघात कर रहे हैं। इससे मन जाग्रत और मुखरित हुए बिना रह नहीं सकता।

मेरे मित्र हैं चित्रकार, बातों का रोजगार उनका नहीं है। उनके साथ अनेक दिन अनेक बातें हुई हैं, सर्वदा मैंने यही लक्ष्य किया है, जो ही बात इनके सामने उपस्थित हो जाती है वे उसी क्षण उस पर जोर के साथ सोच सकते हैं और जोर के साथ कह कह सकते हैं। वह जोर जरा भी शरीर का जोर नहीं है, वह है विचारों का जोर। इनकी अनुभूति-शक्ति भी द्रुत और प्रबल है। जो चीज अच्छी लगने वाली है, उसको अच्छा लगने में इन्हें क्षणमात्र भी देर नहीं लगती, उस सम्बन्ध में इन्हें और किसी का मुखापेक्षी नहीं होना पड़ता। जिसको ग्रहण करना होगा, उसको ये बिलकुल ही सन्देह-हीन होकर ग्रहण करते हैं। मनुष्य को और मनुष्य की शक्ति को ग्रहण करने की इनकी सहज शक्ति ऐसी प्रबल है, इसीलिए ये अपने देश के बहुत से शक्तिशाली विभिन्न श्रेणी के लोगों को इस प्रकार मित्रता के पाश में बाँध सके हैं। उनमें से कोई हैं कवि, कोई हैं समालोचक कोई हैं वैज्ञानिक, कोई हैं दार्शनिक, कोई हैं गुणी, कोई हैं ज्ञानी कोई हैं रसिक, कोई हैं रसज्ञ; ये लोग सभी बिना बाधा के एक क्षेत्र में मिलने वाले आदमी नहीं हैं, किन्तु उनमें सभी मिलने में समर्थ हुए हैं।

अपने मित्र के साथ बातचीत करते समय मुझे यही खयाल होने लगता है कि अनेक विषयों पर इन लोगों को अब शुरू से ही सोचना नहीं पड़ता, इन लोगों ने बहुत सी बातें बहुत दूर तक सोच रखी हैं। भावना के प्रथम धक्के में ही अधिक देर लगती है, तभी जड़ता तोड़ने में समय लगता है, किन्तु जब वह कुछ दूर तक आगे बढ़ जाती है तब उसके लिए चलना सहज हो जाता है। इन लोगों के देश में भावना नामक वस्तु चलने के ही रास्ते में है। उसके पहिये आप ही सरकते हैं। मनुष्य

की चिन्ता के अधिकांश विषय ही बीच रास्ते में हैं। इसीलिए इन लोगों में से किसी शिक्षित मनुष्य के साथ जब बातचीत की जाती है, तब बिलकुल ही सुचिन्तित बातों की धारा मिलती है, और वह धारा द्रुतगतिशील है।

जहाँ विचारों का ऐसा एक वेग है, वहाँ विचार का आनन्द कितना है यह सहज ही में अनुभव किया जाता है। वही आनन्द यहाँ के शिक्षित समाज की सामाजिकता का एक प्रधान अंग है। यहाँ के सामाजिक मिलने-जुलने में चित्त की लीलाएँ अपना विहार-क्षेत्र तैयार कर रही हैं। चिन्तन का सञ्चार केवल भाषणों में और लेखों में नहीं है, वह मनुष्य के साथ मनुष्य की भेंट-मुलाकात में है। बहुधा इन लोगों की बातें सुनते-सुनते मेरे मनमें विचार उठा है कि, ये सब बातें लिख रखने लायक हैं, बिखेर देने की नहीं हैं। किन्तु, मनुष्य का मन कृपणता करके कोई बड़ा फल नहीं पा सकता। जहाँ बिखेर देने की योग्यता नहीं है वहाँ अच्छी तरह काम में लगाने की योग्यता भी नहीं है। प्रत्येक बीज का हिसाब रखकर दबा दबाकर रोपने से बड़ी किस्म की खेती नहीं होती। उदार हाथ से बिखेर बिखेर कर चलना पड़ता है, उससे बहुत कुछ निष्फल होकर भी मोटे तौर से लाभ ही होता है। इसीलिए चिन्तन करने की चर्चा में वही आनन्द रहना चाहिये जिससे वह प्रयोजन की अपेक्षा बहुत अधिक होकर पैदा हो सके। हमारे देश में चित्त की उस आनन्दलीलाका अभाव ही सभी दैन्यों की अपेक्षा अधिक जान पड़ता है।

कैम्ब्रिज कालेज-भवन में एक अध्यापक के घर निमन्त्रित होकर मैं दो-एक दिन ठहरा था। इनका नाम है लोयेस डिकि-न्सन। इन्होंने ही जान 'चायनामैन के पत्र' नामक पुस्तक लिखी

है। वह पुस्तक जिस समय पहली बार प्रकाशित हुई, तब हमारे देश में प्राच्यदेशाभिमान की एक प्रबल हवा वह चली थी। समस्त यूरोप का चित्त जिस तरह एक ही सभ्यता-सूत्र के चारो तरफ अपना रङ्ग जमा चुका है उसी तरह एक दिन समस्त एशिया एक सभ्यता के डंठल पर एक शतदलकमल बनकर विश्वविधाता के चरणों के नीचे नैवेद्य रूपमें जाग उठेगा, यही कल्पना और कामना हमलोगों को उन्मत्त बना रही थी। उसी समय इसी 'चायनामैन के पत्र' नामक पुस्तक के सहारे मैंने एक बहुत बड़ा निबन्ध लिखकर सभा में पढ़ सुनाया था। तब मैं जानता था, वह पुस्तक सचमुच ही चायनामैन की लिखी हुई है। लेखक को मैंने देखा, वे चायनामैन नहीं हैं इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु वे हैं भावुक, इसलिए वे सभी देशों के मनुष्य हैं। जिन दो दिन में मैं इनके डेरे पर रहा, इनके साथ प्रायः प्रतिदिन ही मेरी बातचीत होती रही। स्रोतके साथ स्रोत जिस तरह अनायास जा मिलता है वैसे ही श्रान्त आनन्द से उनके चित्तवेग के खिंचाव से मेरा चित्त दौड़ता चला जा रहा था। यह किसी विशेप उपार्जन या लाभ का काम नहीं है, यह किसी विशेष विपय की पुस्तक पढ़ने या कालेज का व्याख्यान सुनने का काम नहीं करता, यह मनके चलने का आनन्द है। जिस तरह वसन्त में सब कुछ ही केवल फल और फूल नहीं है, उसके साथ दक्षिण को हवा रहती है, उस हवा के उत्ताप और आन्दोलन से फूलों का आनन्द-विकास परिपूर्ण होता रहता है, उसी तरह यहाँ के मनोविकाश के चारो तरफ जो एक बातचीत की वसन्त हवा बह रही है, जिसमें गन्ध व्याप्त हो रही है और बीज बिखरते जा रहे हैं, जिसमें प्राण के कर्मों के साथ साथ प्राणों का उत्सव विविध दिशाओं को मतवाला बनाता जा रहा है, इस सहृदय, विचार-

शील अध्यापक के ग्रन्थ-मण्डित मकान में मुझे उसी का एक प्रबल स्पर्श मिल गया। इनके साथ एक समय जब यहाँ के एक विख्यात गणित अध्यापक रसेल साहब आ मिले तब उन लोगों की बात-चीत के आनन्द ने मेरे मन को पग-पग पर आहत करके आनन्दित कर दिया। गणित के तेज से किसी का मन जल कर सूख जाता है, किसी का मन आलोकित हो उठता है। रसेल साहब का मन मानो प्रखर अलोक से चमकता रहता है। उसी चिन्ता के आलोक के साथ साथ हास्य-रश्मि मिली हुई है, वही मेरे सामने सबसे अधिक सरस मालूम हुई। रात को भोजनोपरान्त हम लोग कालेज के बगीचे में जा बैठते थे। वहाँ एक दिन रात के समय ग्यारह बजे तक प्राचीन तरुसभा की गभीर नीरवता में इन दोनों अध्यापक बन्धुओं की बातचीत मैं सुन रहा था। बात-चीत का विषय बहु दूरव्यापी था। उसमें साहित्य, समाजतत्त्व, दर्शन सभी तरह की चीजें थीं। मेरे लिए उस रात्रि की स्मृति बहुत ही मनोहर है। एक तरफ विराट विश्व-प्रकृति की आकाशव्यापी निस्तब्धता और दूसरी तरफ उसके ही बीच से मनुष्य का चंचल मन अपनी तरंगमाला विस्तार करके समस्त विश्व को बाहुबन्धन से बाँध डालने के निमित्त अभिसार को जा रहा है। मानो पर्वतमाला स्थिर निश्चल गंभीरता के साथ आकाश को भेदकर खड़ी है, और उसके ही पैरों के पास घेर घेर कर वही दौड़ती चली जा रही है, उसको कोई भी रोकने में समर्थ नहीं हो रहा है, उसका कल्लोच्छ्वास केवल ही प्रश्न कर रहा है और गम्भीर गिरिकन्दराएँ उसकी ही ध्वनि प्रतिध्वनियों से मुखरित होती जा रही हैं। प्रकृति और चित्त इन दोनों का मिलन मैं उस प्राचीन विद्यालय के पुराने बगीचे में बैठकर अनुभव कर रहा था। बृहत् विश्व की नीरवता मनुष्य के भीतर

ही वाणी के आकार में अपने को निरन्तर प्रकट कर रही है, इस वाणी-स्रोत में ही विश्व की आत्मोपलब्धि है, उसका निरन्तर आनन्द है, इसको उस दिन मैंने निविड़ रूप से हृदयङ्गम किया। मुझे मालूम होने लगा, जगत् में अन्धकार की महासत्ता अति विपुल है। अनन्त आकाश में वह महान्धकार अपने को आलोक की लीला में व्यक्त कर रहा है, उस आलोक का चक्रोह चंचल है। वह सर्वदा कम्पमान है, वह कहीं तो चोटियों पर, कही चिनगारियों में, कहीं क्षण काल के लिए, कहीं तो बहुत देर तक के लिए उज्ज्वल होता जा रहा है, किन्तु यह चंचल आलोकमाला ही अविचलित महत् अंधकार की वाणी है। मनुष्य के चित की चंचलधारा भी वैसे ही विशाल विश्व के एक छोर से विभिन्न बहुत से राहों से टेढ़ी-मेढ़ी होकर बहुत सी शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर केवल ही विश्व को प्रकाशित करते-करते चली जा रही है। जहाँ वह प्रकाश परिपूर्ण और परास्त है वहाँ ही विश्व की चरितार्थता आनन्द और ऐश्वर्य के समारोह से उत्सव-मय होती जा रही है। निस्तब्ध रात्रि में दोनों मित्रों के मृदुकंठ की बात-चीत में मैं मनुष्य के मन के समस्त विश्व का वह आनन्द वह ऐश्वर्य अनुभव कर रहा था।

१५

इंगलैंड के गाँव और पादरी

सब समय ही मनुष्य अपनी योग्यता का विचार करके वृत्ति अवलम्बन करनेका मौका पा जाता है ऐसो कोई बात नहीं है-इसी लिए संसार में कर्म-रथ के पहिये ऐसे कठोर स्वर से आर्त्तनाद करते-करते चलते हैं। जिस मनुष्य को मोदी की दूकान खोलना उचित था, वह स्कूलमास्टरी करता है, पुलिस का दारोगा बनने के लिए जिस मनुष्य का जन्म हुआ है उनको पादरी का काम करना पड़ता है। दूसरे व्यवसाय में ऐसा उलट-पुलट हो जाने से नुकसान नहीं होता किन्तु धर्म-व्यवसाय में इसके कारण बहुत ही अनर्थकर घटनाएँ होती रहती हैं। क्योंकि, धर्म के क्षेत्र में मनुष्य के यथासम्भव सत्य न हो सकने से केवल व्यर्थता ही आती हो, ऐसी बात नहीं, बल्कि उससे अकल्याण भी पैदा होता है।

ईसाई धर्म के आदेश के साथ इस देश की मानव-प्रकृति का एक स्थान पर एक खूब असामंजस्य है, ईसाई शास्त्रों में एकान्त नम्रता और दाक्षिण्य के जो उपदेश दिये गये हैं, वे इस देश के लिए स्वभावसंगत नहीं हैं। प्रकृति के साथ लड़ाई करके युद्ध करके अपने को विजयी बनाने की उत्तेजना इन लोगों के रक्त में प्राचीन काल से वंशानुक्रम से संचारित होती आयी है, इसी लिए सैन्यदल में जिन लोगों को भर्ती होना उचित था, वे ही लोग जब पादरी के काम में नियुक्त हो जाते हैं, तब धर्म

का रंग सफेदी छोड़कर एक दम चटकीला लाल हो जाता है। इसीलिए यूरोप में हम लोग सब समय पादरी लोगों को शान्ति के पक्ष में सर्व जाति की न्यायपरता के पक्ष में नहीं देख पाते। युद्ध-विग्रह के समय ये लोग विशेष भाव से ईश्वर को अपने दण्ड का सरदार बना देते हैं और ईश्वरोपासना को रक्त-पात की भूमिका के रूप में व्यवहार करते है।

बहुधा देखा जाता है कि, ये लोग जिन्हें हिदेन कहते हैं उनके प्रति सत्य विचार करने में ये असमर्थ रहते हैं। मानो वे ईसाइयों के ईश्वर के प्रतिद्वन्द्वी किसी दूसरे देवता के बनाये हुए हैं, इस लिए उन लोगों को निन्दित कर सकने से मानो अपने ईश्वर का गौरव बढ़ाया जाता है, इसी तरह का एक भाव उन लोगों के मन में रहता है। इसी विरुद्धता, इसी उग्र प्रतिद्वन्द्विता से पादरियों ने दूसरे धर्म के लोगों को सदा कष्ट पहूँचाया है। उन लोगों ने अस्त्रधारी सैन्यदल की तरह दूसरों को आघात करके विजय करना चाहा है।

इसी लिए भारतवर्ष में पादरियों के सम्बन्ध में हम लोगों की जो धारणा है वह इसी विरुद्धता की धारणा है। वे लोग हम लोगों से अत्यन्त पृथक् हैं, ऐसाही हमने अनुभव किया है। वे हमें ईसाई बनाने को तैयार हैं किन्तु अपने साथ हम लोगों को मिला लेने को तैयार नहीं हैं। एक जातिके साथ दूसरी जातिको मिलाने का भार लेना इनके लिए उचित था। जिसके जरिये परस्पर के प्रति श्रद्धा करके सुविचार कर सकें। उस सेतु को तैयार कर देना तो इन्हीं लोगों का काम है। किन्तु इसका विपरीत हुआ है। ईसाई पादरियों ने गैर-ईसाई जातियों के धर्म, समाज और आचार-व्यवहारको जितना सम्भव हो कालिख से पोत कर अपने देश के लोगो के सामने चित्रित किया है। ऐसी

कोई जाति नहीं है जिसकी हीनता या श्रेष्ठता को स्वतंत्र रूप से दिखाया नहीं जाता। फिर भी, यही निश्चित सत्य है कि, सभी जातियों को ही उनकी श्रेष्ठता के द्वारा विचार करने से ही उन्हें सत्य रूप से जाना जाता है, हृदय में प्रेमका अभाव और आत्म-गौरवही इस विचार में बाधा है। जो लोग भगवान् के प्रेम में जीवन को उत्सर्ग कर देते हैं, वे इस बाधाको अतिक्रम करेंगे, यही आशा की जाती है। किन्तु दूसरी जातिको हीन बनकर, दिखाकर पादरियोंने ईसाई गैर-ईसाई के बीच जितना बड़ा प्रबल भेद पैदा किया है, ऐसा सम्भवतः और किसीने नहीं किया है। दूसरों को देखते समय उन लोगों ने धर्मव्यवसायका साम्प्रदायिक चश्मा पहिन लिया है। विजेता और विजित जातियों के बीच एक प्रचण्ड अभिमान स्वभावत: ही मौजूद है, वह है शक्तिका अभिमान—इस कारण परस्पर के बीच मनुष्योचित मिलन का वही है एक बहुत बड़ा विघ्न—पादरियों ने उस अभिमानको धर्म और समाज नीति की दृष्टि से भी बड़ा बना दिया है। इसी कारण ईसाई धर्म भी तरह-तरह से हम लोगों के मिलन का एक विघ्न बन गया है, उसने हम लोगों के पारस्परिक श्रेष्ठ परिचय को ढक रखा है।

किन्तु, ऐसे साधारण भाव से किसी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कोई बात कहना ठीक नहीं है। यहाँ आने पर एक ईसाई पादरी के साथ मेरी बातचीत हुई है, जो पादरी को अपेक्षा ईसाई अधिक हैं—धर्म जिनके अन्दर व्यावसायिक मूर्ति धारण करके उग्र रूप में दिखाई नहीं पड़ा है, समस्त जीवन के साथ सुसम्मिलित होकर प्रकट हो रहा है। ऐसे मनुष्य को कोई मनमें यह नहीं समझ सकता कि, 'वे हमारे पक्षके आदमी नहीं है, ये दूसरे दल के हैं।' यही मैं अत्यन्त अनुभव करता हूँ कि, ये हैं मनुष्य—ये

सत्य को, मंगल को, सभी मनुष्यों में देखने में आनन्द अनुभव करते हैं—उसे ईसाई की ही विशेष सम्पत्ति समझकर ईर्षा नहीं करते। और भी आश्चर्य की बात यह है कि, इनका कार्यक्षेत्र भारतवर्ष में है। वहाँ ईसाई के लिए यथार्थ ईसाई बनने में एक बहुत बड़ी बाधा है—क्योंकि वहाँ हैं वे राजा। राष्ट्रनीति धर्मनीति की सौत है। बहुधा वही हैं राजरानी। इस कारण भारतवर्ष के पादरी भारतवासियों के समग्र जीवन के साथ समवेदना का सम्पर्क नहीं रख सकते। एक बड़ी जगह पर हमारे साथ उन लोगों के जातीय स्वभाव का संघात मौजूद है और एक जगह पर वे लोग अपने गुरु का उपदेश शिरोधार्य कर सिर झुका नहीं सकते। उन्होंने नम्रता द्वारा पृथ्वी को जीत लेने के लिए कहा है, किन्तु वह है स्वर्ग राज्यकी नीति, ये लोग हैं मर्त्यराज्यके अधीश्वर।

मैं जिनके विषय में कह रहा हूँ, वे हैं रेवेरण्ड एण्ड्रुस। भारत वर्ष के लोगोंसे इनका परिचय है। उन्होंने अपने अन्दर जो अंग्रेज राजा है उसको बिलकुल ही हार मनवा दिया है और हम लोगों का स्वजन बन जाने का पवित्र अधिकार प्राप्त कर लिया है। ईसाई धर्म जहाँ समग्र जीवन का अधिकारी हो उठा है वहाँ कैसी मधुरता और उदारता है उसे इनके अन्दर प्रत्यक्ष देख पाने को मैं विशेष सौभाग्य की बात मानता हूँ।

इन्होंने ही मुझसे एक दिन कहा—'देश लौट जाने के पहले यहाँ के गृहस्थों के मकान तुमको देख जाना पड़ेगा। शहरों में उनका बहुत रूपान्तर हो गया है—गाँव-देहात में न जाने से उनका ठीक परिचय नहीं मिलता।' इनके एक मित्र स्टूफोर्ड शियर में एक गाँव में पादरी का काम करते हैं, उनके ही मकान में हमारे कुछ दिन ठहरने की व्यवस्था एण्ड्रुस साहब ने कर दी।

अगस्त मास इस देश में ग्रीष्म ऋतु के अधिकार में गिना जाता है। उस समय शहर के लोग गाँव-देहात में जाकर हवा खा आने के लिए चंचल हो उठते हैं। अपने देश में ऐसे निर्विघ्न रूप से हम प्रकृति का संग पाते हैं—वहाँ आकाश और उजाला ऐसी प्रचुरता में हमारे लिए सुलभ है कि, उसके साथ सम्पर्क स्थापन के लिए हमें कोई तैयारी नहीं करनी पड़ती। किंतु यहाँ प्रकृति को उसका घूँघट खोलकर देखने के लिए लोगों के मन की उत्सुकता किसी तरह भी दूर होना नहीं चाहती। छुट्टी के दिन ये लोग जहाँ ज़रा भी खुला मैदान है, वहीं ही दलबद्ध होकर दौड़ जाते हैं—बड़ी छुट्टी होते ही शहर से बाहर चले जाते हैं। इसी तरह प्रकृति ने इन लोगों को गमनागमन की राह में रख दिया है और इन्हें एक जगह पर वह स्थिर होकर बैठने नहीं देती। छुट्टी के दिनों में सभी ट्रेनें बिलकुल ही जनता से परिपूर्ण रहती हैं। बैठने की जगह नहीं मिलती। उसी शहर के उड़नेवाले मनुष्यों के झुण्ड के साथ मिलकर हम लोग बाहर निकल पड़े।

गम्य स्थान के स्टेशन पर हमारे निमन्त्रणकर्त्ता अपनी खुली गाड़ी के लिए हमारे लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। जिस समय मैं गाड़ी पर सवार हुआ उस समय आकाश में बादल छाये हुए थे। छायाच्छन्न प्रभात के आवरण में देहाती प्रकृति ने म्लान चेहरे से दर्शन दिये। कुछ थोड़ी दूर जाते ही वर्षा आरम्भ हो गयी।

जब मैं मकान में जा पहुँचा, मकान-मालकिन अपने आग से गरम रखे हुए बैठकखाने में ले गयीं। यह मकान पुराना पादरी-निवास नहीं था। यह नया बनवाया गया था। मकान से सटे हुए भूखण्ड में पुराने वृक्षों की कतारें बहुत दिनों के धारावाहिक मानव-जीवन की विलुप्त स्मृति को पल्लवपुञ्जों की अस्फुट

भाषा में मर्मरित नहीं कर रही है। बगीचा नया है, जान पड़ता है कि, इन्हीं लोगों ने लगाया है। घनी हरी घास के खेतों के किनारे-किनारे विचित्र रङ्गों के फूलोंने खिलकर कंगाल नेत्रों के सामने अजस्र सौन्दर्य का निर्विघ्न अन्न-सत्र खोलकर रख दिया है। ग्रीष्म ऋतु में इङ्गलैंड में फूल-पल्लवों की जैसी सरसता और प्रचुरता रहती है, वैसी तो मैंने कहीं भी नहीं देखी है। यहाँ जमीन पर घास का परदा कितना घना और कितना गहरा हरा रहता है उसे देखे बिना विश्वास नहीं किया जा सकता।

मकान के कमरे सजाये हुए हैं, साफ-सुथरे हैं, लाइब्रेरी सुपाठ्य ग्रन्थों से परिपूर्ण है, अन्दर-बाहर कहीं लेश-मात्र अयत्न का चिह्न नहीं है। यहाँ के भद्र गृहस्थों के मकान में यही चीज विशेष रूप से मेरे मन को अच्छी लगी है। इनके व्यवहार के आराम के और गृह-सजावट के उपकरण हम लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं, तो भी मकान की प्रत्येक साधारण वस्तु के प्रति गृहस्थ का चित्त सतर्क भाव से जाग्रत रहता है। अपने चारो तरफ शिथिलता रखना, अपना ही अपमान है इस वे लोग खूब समझते हैं। यह जाग्रत आत्ममर्यादा का भाव छोटे-बड़े सभी विषयों में काम कर रहा है। ये लोग अपने मनुष्य-गौरव को छोटा बनाकर नहीं देखते, इसी लिए अपने घर-द्वारों को जिस तरह सब प्रकार के प्रयत्नों से इन्होंने अपने लिए उपयुक्त बना दिया है उसी तरह अपने पड़ोस को, समाज को, देश को सभी विषयों में सब तरह साफ बना डालने के लिए इन लोगों का प्रयास निरंतर जारी है। त्रुटि नामक वस्तु को ये लोग किसी कारण भी किसी स्थान में भी माफ नहीं करना चाहते।

लगभग तीसरे पहर को मुझे साथ लेकर मकानमालिक ऊट्रम साहब टहलने के लिए बाहर निकल पड़े। उस समय वर्षा बन्द

हो गयी थी, किन्तु आकाश में बादलों का मँडराना रुका नहीं था। यहाँ के पुरुष जिस तरह काली टोपी माथे पर पहन कर मलिन रंग का कुर्ता पहिनकर घूमते-फिरते हैं, यहाँ के देवता लोग उसी तरह अत्यंत भद्रवेश में आच्छन्न होकर दिखाई पड़े। किन्तु, इस घन गाम्भीर्य की छाया के नीचे भी यहाँ के गाँव की शोभा नहीं ढकी। गुल्म पंक्तियों के घेरों से विभक्त लहराते हुए मैदानों की श्यामलिमा ने दोनों नेत्रों को स्निग्धता से अभिषिक्त कर दिया। जगह तो जरूर ही पहाड़ी है किन्तु पहाड़ का उग्र रूखापन कहीं भी नहीं है—हमारे देश को रागिनी में जैसे एक सुर के बाद दूसरा सुर मिड़ के खिंचाव से ढल जाता है, यहाँ की जमीन के सारे उच्छ्वास वैसे ही ढालू होकर एक दूसरेके शरीर के साथ सटे हुए हैं, धरित्रा के सुर-बहार में मानो कोई देवता निशब्द रागिनी से मेघ मल्लार का तान बजा रहे है। हमारे देश के जो सब प्रदेश पर्वतीय हैं, उनमें जैसी एक उद्धत महिमा मौजूद है, वह यहाँ पर दिखाई नहीं पड़ती। चारो तरफ गौर से देखने से मालूम होता है वन्य प्रकृति ने यहाँ पूरा पोस मान लिया है। मानो महादेव का वाहन वृष हो—शरीर कोमल चमकीला है। नन्दी के तर्जनी-संकेत को मानकर उसके पैरों के पास सींग झुकाये शान्त पड़ा हुआ है, प्रभु की तपस्या भंग हो जाने के डर से अपनी बोली भी नहीं बोल रहा है।

राह में चलते चलते ऊद्रम साहब ने एक राहगीर से कुछ काम की बातें कर लीं। बात यह थी—स्थानीय गृहस्थ-किसानों को अपने मकान के चारो तरफ छोटा-सा बगीचा तैयार करने में उत्साहित करने के लिए इन लोगों ने एक समिति की स्थापना कर उत्कर्ष के अनुसार पुरस्कार देने की व्यवस्था की है। थोड़े दिन पहले परीक्षा हो चुकी है। इसमें यह राहगीर पुरस्कर का

अधिकारी हो गया है। ऊट्म साहब मुझे कुछ किसान-गृहस्थों के घर दिखाने के लिए ले गये। उनमें से प्रत्येक ने अपनी कुटिया के चारो तरफ बड़े यत्न से कुछ फलों और तरकारियों का बगीचा तैयार कर लिया था। ये लोग सारा दिन खेतों में काम करते हैं और सन्ध्या के बाद घर लौट कर इस बगीचे में काम करते हैं इसी प्रकार पेड़-पौधों के प्रति इनके मन में एक ऐसे आनन्द का खिंचाव हो गया है कि, यह अतिरिक्त परिश्रम इनके शरीर में नहीं लगता। इसका एक और सुफल यह है कि, यह उत्साह मदिरा के नशे को भगा रखता है। बाहर को सुन्दर बना देने की इस चेष्टा से अपने हृदय को भी क्रमशः सौन्दर्य के सुर में बाँध देना होता है। यहाँ के ग्रामवासियों के साथ ऊट्म साहब के हितानुष्ठान के बारे में मैंने और भी विभिन्न रूपों से देखा है। इस प्रकार मङ्गल व्रत में सदा उत्सर्ग किया हुआ जीवन कितना सुन्दर है यह इनको देखकर मैंने अनुभव किया है। भगवान् की सेवा के अमृतरस से इनका जीवन पके हुए मधुर फल की तरह नम्र हो गया है। अपने मकान के अन्दर इन्होंने एक पुण्य का प्रदीप जला रखा है अध्ययन और उपासना के द्वारा इनका गार्हस्थ्य प्रति दिन धुल रहा है, इनका आतिथ्य कैसा सहज और सुन्दर है यह मैं भूल न सकूँगा।

यह जो एक एक पादरी कई गाँवों को केन्द्र बनाकर बैठे हुए हैं, इसकी सार्थकता इस बार मैंने स्पष्ट देख ली। इस सर्व-देश व्यापी व्यूहबद्ध चेष्टा के द्वारा अतिशय देहात में एक उन्नति का प्रयास जाग्रत बना हुआ है। इस प्रकार धर्म इस देश में शुभ कर्म-आकार में चारो तरफ फैला हुआ है। एक वृहत् व्यवस्था के सूत्र से इस देश के सभी मकान माला की तरह गुँथे हुए हैं। हम लोगों की तरह जो लोग इस तरह सार्वजनिक

व्यवस्था के अभाव से पीड़ित हो रहे हैं वे ही लोग जानते हैं कि यह कितना बड़ा एक कल्याण है।

मनुष्य ऐसी त्रुटि-हीन व्यवस्था चिर-काल की तरह पक्के तौर से गढ़कर नहीं रख सकता, जिसमें कोई पाखण्ड, कोई अनर्थ किसी समय प्रवेश करने का रास्ता नहीं पाता। इस देश के धर्ममत और धर्मतन्त्र के साथ आजकल के उन्नति-शील समय का कुछ कुछ असामंजस्य पैदा हो रहा है, यह बात सभी जानते हैं। मैंने यहाँ के बहुत से लोगों के मुँह से सुना है, भोजनालय में जाना इन लोगों के लिए असाध्य हो गया है। जिन सब बातों पर विश्वास करना असम्भव है, उनपर अन्ध भाव से स्वीकार करने के पाप में वे लोग लिप्त होना नहीं चाहते। इस प्रकार देशप्रचलित धर्ममत विभिन्न स्थानों में जीर्ण हो जाने से धर्म के आश्रय को इन लोगों ने सर्वाङ्ग में ही त्याग दिया है। ऐसे समय में ही तरह-तरह के कपटाचार वृद्ध धर्ममत के सहारे उसको और भी रोगी बना देते हैं। आज कल निस्सन्देह चर्चों में ऐसे अनेक पदारियों ने आसन ग्रहण किया है जो लोग जिस बात में विश्वास नहीं करते, उसका ही प्रचार करते हैं और जिस बात का प्रचार करते हैं उसको शरीर कष्ट से विश्वास करने के लिए अपने को भुला रखने की तैयारी करते रहते हैं। यह मिथ्या समाज को विभिन्न रूपों से आघात करता है, इसमें सन्देह नहीं है। सदा से ही कट्टरता धर्म के सिंह द्वार को इस तरह संकीर्ण बना रखती है कि उसके द्वारा क्षुद्रता ही प्रवेश करने का पथ पाती है, महत्त्व बाहर पड़ा रह जाता है। इस तरह यूरोप में जो लोग ज्ञान से, प्राण से और हृदय से महान् हैं उनमें से बहुत से ही लोग धर्मतन्त्र के बाहर पड़ गये हैं। यह अवस्था कभी कल्याणकर नहीं हो सकती।

किन्तु यूरोप की रक्षा उसकी प्राणशक्ति कर रही है। वह किसी एक स्थान पर रुकी हालत में पड़ी नहीं रहती। चलना उसका धर्म है—गति के वेग से वह अपनी बाधा को केवल आघात देकर क्षीण बना रही है। ईसाई धर्ममत जिस परिमाण में संकुचित हो कर इस स्रोत के वेग को रोक रहा है, उसी परिमाण में आघात पाकर उसे प्रशस्त बन जाना पड़ेगा। वह प्रक्रिया प्रतिदिन ही चल रही है। अन्त में यहाँ के मनीषी लोग जिसे 'ईसाई धर्म कहकर परिचित कर रहे हैं, उसने अपने स्थूल आवरण को पूर्ण रूप से त्याग दिया है। वह द्वित्ववाद को नहीं मानता, ईसा को अवतार स्वीकार नहीं करता। ईसाई पुराण वर्णित अतिप्राकृतिक घटनाओं में उसकी आस्था नहीं है, वह मध्यस्थवादी भी नहीं है। यूरोप की धर्मप्रकृति के भीतर एक प्रबल हलचल उपस्थित हो गयी है। इस कारण यह निश्चित है कि यूरोप कभी भी अपने सनातन धर्ममत को अपनी सर्वाङ्गीन उन्नति की अपेक्षा नीचे झूलता हुआ छोड़कर अपने आप को एक इतने बड़े बोझ से दबाकर न रख सकेगा।

जो भी हो, पादरी लोग इस तरह धर्ममत का जाल फैलाकर सारे देश को घेर कर बैठे हुए हैं, इससे समय समय पर देशकी उन्नति में बाधा पहुँचने पर भी, मोटे तौर से देश के भीतरी उच्च सुर को उसने बाँध रक्खा है, इस विषय में सन्देह नहीं रह सकता। हमारे देश के ब्राह्मणों का यही काम था। किन्तु ब्राह्मणों का कर्तव्य वर्णगत हो जाने के कारण उसने स्वभावतः ही अपने कर्तव्य के दायित्व को खो दिया है। ब्राह्मण के कर्तव्य का आदर्श जितना ही ऊँचा होगा, उतना ही वह विशेष योग्य व्यक्तियों की विशेष शिक्षा और क्षमता के ऊपर निर्भर करेगा—जब ही समाज की किसी विशेष श्रेणी के अन्तर्गत इस दायित्वको वंशागत बना दिया गया है, तब ही उस

आदर्श को यथासम्भव खर्व बना दिया गया है। ब्राह्मण के घर में जन्म ग्रहण होने से ही मनुष्य ब्राह्मण हो सकता है, इस नितान्त स्वभावविरुद्ध मिथ्या का बोझ हमारा समाज आँखें बन्द करके ढोता चला आ रहा है, इसी लिए उसका धर्म प्राण-हीन और प्रथागत अन्धसंस्कार में परिणत हो रहा है। जिस ब्राह्मण को समाज भक्ति करने को बाध्य हुआ है, वह ब्राह्मण चरित्र और व्यवहार में भक्ति-भाजन होने के लिए अपने को बाध्य नहीं समझता, वह केवल जनेऊ के लगाम के द्वारा समाज को चलाता हुआ उसको विभिन्न दिशाओं में किस तरह हीनता में उत्तीर्ण करता जा रहा है, यह बात अभ्यास की अन्धता के कारण ही हम लोग नहीं समझ पाते। यहाँ प्रत्येक पादरी ने ही अकृत्रिम निष्ठा के साथ ईसाई धर्म के आदर्श को अपने जीवन में ग्रहण कर लिया है, इस बात पर मैं विश्वास नहीं करता, किन्तु ये लोग वंशगत पादरी नहीं हैं, समाज के सामने इनकी जवाबदेही है, अपने चरित्र को, आचरण को ये लोग कलुषित नहीं कर सकते, इस लिए और कुछ भले ही न हो, उस निर्मल चरित्र के, उस धर्म नैतिक साधना के सुर को यथा-शक्ति देश के सामने इन लोगों ने पकड़ रखा है। शास्त्र जो कुछ भी क्यों न कहे, व्यवहारतः अधार्मिक ब्राह्मण से धर्मकर्म कराने में हमारे समाज को जरा भी लज्जा संकोच नहीं है। इसमें धर्म के साथ पुण्य का आन्तरिक विच्छेद उपस्थित हुए बिना रह नहीं सकता—इससे अपने मनुष्यत्व को हम लोग प्रति दिन अपमानित कर रहे हैं। यहाँ अधार्मिक पादरी को समाज कभी क्षमा नहीं करेगा, वह पादरी सम्भवतः भक्तिमान न हो सके, किन्तु उसको चरित्र-वान तो होना ही पड़ेगा—इसी उपाय से समाज अपने मनुष्यत्व के प्रति सम्मान रक्षा कर रहा है और निस्संदेह

चरित्र-सम्पद् से उसका पुरस्कार पा रहा है।

इसी लिए मैं कह रहा था, यहाँ के पादरी दल ने समस्त देश के लिए एक धर्मनैतिक सूखी रोटी मोटे कपड़े की व्यवस्था कर दी है। किन्तु उतने से ही तो सन्तुष्ट हो जाने की बात नहीं है। समस्त देश के सामने क्षण क्षण जो बड़ी बड़ी धर्म-समस्या उपस्थित होती रहती है, ईसामसीह की वाणी के साथ सुर मिलाकर पादरी लोग तो उसकी मीमांसा नहीं करते। देश के चित्त में ईसा को प्रतिष्ठित कर रखने का जो भार उन लोगों ने लिया है, यहाँ पग पग पर उसमें त्रुटि देख पाता हूँ। जिस समय बोअर युद्ध उपस्थित हुआ था उस समय सारे देश के पदारियों ने उसका कैसा विचार किया था। यही जिस ईरान को दो टुकड़ों में काट डालने के लिए यूरोप की दो मोटी गृहिणियाँ पहँसुल पसार कर बैठी हुई हैं—पादरी लोग चुप होकर क्यों बैठे हुए हैं। भारत वर्ष में कुली एकत्र करने के काम में, कुलियों से काम लेने में, वहाँ के शासन तन्त्र में, वहाँ देशी लोगों के प्रति अँग्रेजों के व्यवहारों में, किसी तरह का अविचार न होने देने के लिए ईसा मसीह का नाम लेकर वे सभी मिलकर, दुर्बल अपमानित के साथ आकर खड़े हो सकें ऐसा स्वर्गीय दृश्य क्या हम लोगों ने देखा है? अँग्रेजी में 'पैसा के समय पक्का, रुपये के समय बेवकूफ' ऐसी एक कहावत प्रचलित है, बड़े-बड़े ईसाई देशों के धर्मनैतिक आचरणों में उसका परिचय हम लोग प्रतिदिन पा रहे हैं, वे लोग व्यक्तिगत नैतिक आदर्श को कस रखना चाहते हैं, फिर भी समूची जाति व्यूहबद्ध होकर ऐसे सब प्रकाण्ड पापाचरणों में निर्लज्ज भाव से प्रवृत्त हो रही हैं, जिससे सुदुरव्यापयी देश और काल का आश्रय लेकर दुःख-दुर्गति की सृष्टि हो रही है, ऐसे दुर्दिन में अनेक महात्माओं को स्वजाति की इस सार्वजनिक

शैतानी के विरुद्ध निर्भय होकर लड़ते मैंने देखा है किन्तु उन लोगों में पादरी कितने हैं ? यहाँ तक कि गणना करके देखा जायगा, तो मालूम होगा कि उनमें से अधिकांश ही प्रचलित ईसाई धर्म में विश्वास नहीं रखते । तो भी चर्च की चिर-प्रथा-सम्मत किसी बाह्य पूजा-विधि में मामूली कुछ हेर-फेर करने से समस्त पादरी समाज में शोर-गुल होने लगता है । क्या इसी लिए ईसामसीह ने अपना रक्त दिया था ? जगत् के सामने यह कौन सुसमाचार प्रचार कर रहा है । ईसाई देशों का पादरी-दल स्वजातीय धर्मकोष का पाई-अधेला तक अगोरता हुआ बैठा हुआ है, किन्तु बड़े-बड़े 'कम्पनी के कागज' जला देते समय उन्हें होश नहीं है । वे लोग अपने देवता को कौड़ी को मूल्य से सम्मानित करते हैं, और अशर्फी के मूल्य से अपमानित करते हैं, यही मैं प्रतिदिन देख रहा हूँ । पादरियों में ऐसे ऊँचे विचार के लोग हैं जो अकृत्रिम विश्व-बन्धु हैं, किन्तु यह है उन लोगोंका व्यक्तिगत माहात्म्य । किन्तु उस दल की तरफ देखने से यही बात समझ में आती है कि धर्म को दल के हाथ में सौंप देने से उसको कुछ परिमाण में रौंदना ही होता है । इससे भी एक तरह की ऐसी जाति बनायी जाती है, जो वंशगत जाति की अपेक्षा अनेक विषयों में अच्छी होने पर भी उसमें जाति का विष कुछ रह जाता है और वह जम कर उठने लगता है । धर्म मनुष्य को मुक्ति देता है, इस लिए धर्म को सबसे अधिक मुक्त रखना चाहिये । किन्तु, धर्म जहाँ दल के घेरे में रुक जाता है वहाँ ही क्रमशः उसका छोटा भाग ही बड़े भाग की अपेक्षा बड़ा हो जाता है, बाहर की चीज अन्तर की चीज को आच्छन्न करती है और जो सामयिक है वह नित्य को पीड़ित करती रहती है । इस कारण ही सारे देश में फैले हुए पादरी दल के रहने पर भी घोर दस्यु-वृत्ति और

कसाई वृत्ति करने में राजनैतिक नेताओं को लेशमात्र संकोच नहीं मालूम होता। उन लोगों में वह पुण्य-ज्योति नहीं है जिसके सामने इन सब विराट पापों की कलंक-कालिमा सबके सामने वीभत्स रूप से उद्‌घाटित हो जाय।

१६

संगीत

हम ग्रीष्म ऋतु का अन्त होते समय इस देश में आ पहुँचे हैं, अब यहाँ संगीत का समारोह टूटने पर है। किसी बड़े उस्ताद के गायन और वाद्य की बैठक अब नहीं होती। यहाँ के निकुंजों में ग्रीष्म ऋतु में पक्षीगण बहुत से समुद्रों को पार करके आते हैं, फिर वे सभा भंग कर चले जाते हैं। मनुष्य का संगीत भी यहाँ सब ऋतुओं में नहीं सुनाई पड़ता, उसके लिए विशेष समय है, उस समय संसार के बहुत से उस्ताद विभिन्न दिशाओं से आकर यहाँ संगीत-सरस्वती की पूजा करते रहते हैं।

हमारे देश में भी किसी समय ऐसे ही गीत-वाद्य के पर्व प्रचलित थे। पूजा-त्यौहार के समय बड़े-बड़े धनवानों के घर विभिन्न देशो के गुणियों का जमावड़ा होता था। उन सभी संगीत-सभाओं में देश के साधारण लोगों का प्रवेश बेरोक टोक होता रहता था। उस समय लक्ष्मी, सरस्वती एक साथ मिलती थीं और संगीत का वसन्त-समीर समस्त देश के हृदय के ऊपर से प्रवाहित होता था। सभी देशों में ही किसी दिन बुनियादी धनियों ने ही देश के शिल्प, साहित्य, संगीत को आश्रय देकर उनकी रक्षा की है। यूरोप में अब जन-साधारण ने उस बुनियादी

वंश का स्थान अधिकार कर लिया है। हमारे देश में पूजोत्सव के द्वारा जो बात होती है वह यूरोप में सर्वत्र फैल गयी है। पूजोत्सव में ही यहाँ उस्ताद मंगा कर लोग गान सुनते हैं, पूजोत्सव की कृपा से सार्वजनिक दरिद्र कवि का दैन्य दूर होता है, और चित्रकार चित्र अंकित करके लक्ष्मी का प्रसाद पाता है किन्तु, हमारे देश में वर्तमान काल में धनियों के धन का कोई दायित्व नहीं है, उस धन से केवल लैजरस असलर हैमिलन, हरमैन और माकिण्टस बार्न कम्पनियों का मुनाफा ही बढ़ता रहता है। इधर जन-साधारण में भी न तो शक्ति है, और न तो रुचि ही है। हमारे देश में कला-वधू को लक्ष्मी ने भी छोड़ दिया है, गणेश के घर में अब भी उनको जगह नहीं मिली है ।

मेरे सौभाग्य-वश इस बार मेरे लन्दन आने के कुछ ही सप्ताह बाद क्रिस्टल पैलेस की गीतशाला में हैण्डेल उत्सव का आयोजन हुआ था। प्रसिद्ध संगीत रचयिता हैण्डल जर्मन थे, किन्तु इंग्लैण्ड में ही उन्होंने अपना अधिकांश जीवन बिताया था। बाइबिल के किसी किसी अंश को उन्होंने सुर में बैठा दिया था। उन सबको इस देश में विशेष आदर मिला है। ये ही सब गीत सैकड़ों यन्त्रों के द्वारा बहु शत कंठों से मिलकर हैण्डल उत्सव में गाये जाते हैं। चार हजार वादकों और गायकों ने मिलकर इस बार के उत्सव को सम्पन्न किया था।

इस उत्सव में मैं उपस्थित था। विशाल सभागृह की गेलरियों पर स्तर स्तर पर गायक और वादक बैठे हुए थे। ऐसा बृहत् समारोह हुआ कि दूरबीन की सहायता के बिना स्पष्ट रूप से कोई दिखाई नहीं पड़ता था। जान पड़ता था मानो झुन्ड के झुन्ड मनुष्यों के बादल बन गये हैं। स्त्री और पुरुष गायक लोग उदारा मुदारा और तारा सुरों के कंठ के अनुसार भिन्न भिन्न

श्रेणियों में बैठे हुए थे। एक ही रंग के और एक ही किस्म के कपड़े पहने हुए थे, सब समेत मालूम होता था, एक बहुत बड़े पट के ऊपर किसी ने मानो हर लाइन पर रेशम की बुनावट कर दी है।

चार हजार कंठों से और यंत्रो से संगीत जाग उठा। उसमें से एक सुर भी अपना रास्ता नहीं भूला। चार हजार सुरों की धारा नृत्य करते-करते एक ही साथ निकल पड़ी। उनमें में किसी ने किसी को भी आघात नहीं किया। तो भी समतान नहीं था, विचित्र तान था, विपुल सम्मिलन था। इस बहु विचित्र को ऐसी अनिन्दनीय सुसम्पूर्णता से एक बना देने में जो एक बृहत् शक्ति है, उसी को अनुभव करके मन आश्चर्य में पड़ गया। इतने बड़े बृहत् कार्य में अन्तर-बाहर इस जाग्रत शक्ति की कहीं भी जरा भी उदासीनता नहीं है, जड़ता नहीं है। आसन-वसन से आरम्भ करके गीत-कला की सुश्रृंखला तक सर्वत्र उसका अमोघ विधान प्रत्येक अंश को समग्र के साथ मिलाकर नियंत्रित कर रहा है।

कभी-कभी छपे हुए प्रोग्राम खोलकर गायन की बातों के साथ सुर मिलाकर देखने की मैंने चेष्टा की थी। किन्तु मिलना देख सका था यह बात मैं कह नहीं सकता। इतना बड़ा एक प्रकाण्ड विषय गढ़ कर तैयार कर लेने से वह एक यन्त्र की वस्तु हो जायगी इसमें सन्देह नहीं है। बाहर का आयतन बृहत् विचित्र और निर्दोष हो उठा है, किन्तु भाव का रस दब गया है। मुझे मालूम हुआ कि बृहत् व्यूहबद्ध सैन्यदल जिस तरह चलता है इस सङ्गीत की गति उसी तरह है; इसमें शक्ति है, किन्तु लीला नहीं है।

किन्तु इसी कारण समस्त यूरोपीय सङ्गीत-पदार्थ ही इसी श्रेणी का है यह कहने से सच कहना न होगा। अर्थात् यूरोपीय संगीत में आकार की निपुणता ही प्रधान है, भावों का रस•

प्रधान नहीं है, यह बात विश्वासयोग्य नहीं हो सकती। क्योंकि, यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है कि सङ्गीत की रससुधा यूरोप को किस तरह विभोर कर देती है। फूलों के प्रति मधु-मक्खियों का आग्रह देखने से ही समझ में यह बात आ जायगी, कि, फूलों में मधु है, उसे हम भले ही न देख सकें।

यूरोप के साथ हमारे देश के सङ्गीत का एक स्थान पर मूलतः फर्क है। हार्मनी या स्वर-सङ्गीत यूरोपीय सङ्गीत की प्रधान वस्तु है, और रागरागिनी ही हमारे सङ्गीत का मुख्य अवलम्बन है। यूरोप ने विचित्र की तरफ दृष्टि रखी है, हम लोगों ने एक की तरफ। विश्व-सङ्गीत में हम देख रहे हैं विचित्र का तान सहस्र धाराओं में उच्छ्वसित हो रहा है; एक किसी दूसरे की प्रतिध्वनि नहीं है। प्रत्येक की ही अपनी विशेषता है; फिर भी सब ही एक होकर आकाश को पूर्ण बना रहा है। हार्मनी जगत् के बहुरूपों की विराट नृत्यलीला को सुर देकर दिखा रही है। किन्तु अवश्य ही बीच में एक एक-रागिनी वाला गान चल रहा है, उस गान के तानलय को ही घेर घेर कर नृत्य अपनी विचित्र गति को सार्थक ,बनाता जा रहा है। हमारे देश का सङ्गीत उसी बीच वाले गान को पकड़ने की चेष्टा कर रहा है। वही गम्भीर, गुप्त, वही एक—जो ध्यान से पाया जाता है, जो आकाश से स्तब्ध हो गया है। सदा दौड़नेवाले विचित्र के साथ शामिल हो ताल रखकर चलना, यही है यूरोपीय प्रकृति; और चिरनिस्तब्ध एक की तरफ कान रोप कर, मन रख कर अपने को शान्त करना, यही है हम लोगों का स्वभाव।

अपने देश के सङ्गीत में क्या हम लोग यही अनुभव नहीं करते। यूरोप के सङ्गीत में हम देख पाते हैं, मनुष्य के सभी तरङ्ग-खेलों के साथ उसके ताल-मान का मेल है, मनुष्य की

हँसी-रुलाई के साथ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। हमारा सङ्गीत मनुष्य की जीवन-लीला के अन्दर से नहीं उडता, उसके बाहर से वह बह कर आता है। यूरोप के सङ्गीत में मनुष्यों ने अपने घरों की बत्तियों को, उत्सवों की बत्तियों को, विभिन्न रङ्ग के झाड़-फानूस लालटेनों से विचित्र बनाकर जलाया है; हमारे संगीत में दिगन्त से चन्द्रमा का प्रकाश आ पड़ा है। इसी लिए बराबर मैंने यह अनुभव किया है कि हमारा सङ्गीत हमारे सुख-दुःखों को पार करके चला जाता है। हमारे विवाह की रात्रियों में राशन चौकी पर सहनाई बजती है, किन्तु सहनाई के तानों में प्रमोद की लहरें कहाँ नाचती हैं। उसके अन्दर यौवन की चञ्चलता जरा भी नहीं है। वह है गम्भीर। उसके लय के तह तह पर करुणा रहती है, हमारे देश में आधुनिक विवाहों में सहनाई के साथ विलायती बैण्ड बजाना बड़े आदमीपन की बर्बरता का एक अङ्ग है। दोनों का भेद बिल्कुल ही सुस्पष्ट है। विलायती बैंड के सुर में मनुष्य के आमोद्-आह्लाद् का समारोह पृथ्वी को कँपा रहा है, जैसे आदमी-जनों की भीड़, जैसा हास्यालाप, जैसी साजसज्जा जैसा फूल-पत्तोंके आलोक का ठाटबाट, बैण्ड के सुरका उच्छ्वास भी वैसा ही है। विवाह की प्रमोदसभा को चारों ओर से घेर कर, जो अँधेरी रात निस्तब्ध बनी हुई है' वहाँ लोकलोकान्तरों का अनन्त उत्सव नीरव नक्षत्र-सभा में प्रशान्त प्रकाश से चमकता रहता है, सहनाई का सुर वहाँ की वाणी ढोकर प्रवेश करता है। हमारा संगीत मनुष्य की प्रमोदशाला के सिंहद्वार को धीरे धीरे खोल देता है और जनता के बीच असीम को बुला लाता है, हमारा संगीत एक का गान, अकेले का गान है—किन्तु वह कोने का एक नहीं है, वह विश्वव्यापी एक है।

हार्मनी अत्यधिक अधिक प्रबल होने से वह गीत को आ-

च्छन्न कर देती है, और गीत जहाँ अत्यन्त होकर उठना चाहता है, वहाँ वह हार्मनी को पास नहीं आने देता, दोनों में यह अन्तर कुछ दिनों तक अच्छा है, प्रत्येक के पूर्णपरिणत रूप को पाने के लिए कुछ दिन प्रत्येक को स्वतन्त्रता का अवकाश देना ही उचित है। किन्तु इसी कारण चिरकाल ही उन्हें जीवन भर बिनब्याहा रहने को मैं श्रेय नहीं कह सकता। वर-कन्या को जब तक यौवन की पूर्णता नहीं मिल जाती, तब तक उन्हें अलग रहकर बढ़ते देना ही अच्छा है, किन्तु उसके बाद भी यदि वे मिल न सकें तो वे असम्पूर्ण बने रहते हैं। गीत और हार्मनी के मिलन का दिन अब आ गया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस मिलन की तैयारी भी शुरू हो गयी है।

गाँव में सप्ताह में एक विशेष दिन को बाजार लगता है, वर्ष में एक विशेष दिन को मेला लगता है। उसी दिन परस्पर की व्यापारिक वस्तुएँ बेचकर मनुष्य अपने अपने अभावों को पूरा कर लेते हैं। मनुष्य के इतिहास में वैसे ही एक एक युग में बाजारका दिन आता है, इस दिन सब लोग अपनी-अपनी सामग्री लाकर दूसरे की सामग्री संग्रह करने आते हैं। उसी दिन मनुष्य समझ सकता है कि एकमात्र अपनी बनायी चीजों से मनुष्य का दैन्य दूर नहीं होता। वह समझ सकता है कि, अपने ऐश्वर्य की एक-मात्र सार्थकता यही है कि उसमें परायी चीज पाने का अधिकार उत्पन्न होता है। ऐसे युग को यूरोप के इतिहास में रिनेसाँ का युग कहा जाता है। संसार में वर्तमान युग में जो रिनेसाँ का बाजार लग गया है, इतना बड़ा बाजार इसके पहले और किसी दिन नहीं लगा था। इसका मुख्य कारण यह है कि आजकल संसार में चारो तरफ के रास्ते जैसे खुले हुए हैं, वैसे और किसी दिन नहीं थे।

कुछ दिन पहले एक मनीषीने मुझे कहा था यूरोप में भारत-वर्षीय रिनेसाँ का एक समय आसन्न हो गया है। भारतवर्ष के ऐतिहासिक भाण्डार में जो सम्पद् संचित है हठात् वह यूरोप की नजर में पड़ रही है और यूरोप अनुभव कर रहा है कि उनकी उसे जरूरत है। अबतक भारतवर्ष के चित्रशिल्प और स्थापत्य यूरोप के अवज्ञापात्र रहे हैं, अब उनकी एक विशेष महिमा यूरोप ने देख ली है।

बहुत थोड़े दिन हुए, भारतवर्षीय संगीत पर भी यूरोप की दृष्टि पड़ी है। भारतवर्ष में रहते समय ही मैं देख चुका हूँ, यूरोपीय श्रोता तन्मय होकर सुरबहार में बागेश्री रागिनी का अलाप सुन रहे हैं। एक दिन मैंने देखा एक अंग्रेज श्रोता एक सभा में बैठकर दो बंगाली युवकों से सामवेद का गान सुन रहे हैं। दो गायक वेदमंत्रों के साथ इमनकल्याण भैरवी आदि बैठकी सुर मिलाकर उनको सामगान कहकर सुना रहे हैं। उनको मुझे कह देना पड़ा, इस चीजको सामगान मानकर ग्रहण करनेसे काम न चलेगा। मैंने देखा, उनको सावधान कर देना मेरे लिए अत्यन्त निरर्थक था, क्योंकि मुझसे वे बहुत अधिक जानते हैं। मुझे उन्होंने वेदमंत्रों की आवृत्ति करने का कहा तो मैं जो कुछ थोड़ा सा जानता हूँ उसके अनुसार मैंने आवृत्ति कर दी। उसी क्षण उन्होंने कहा, यह तो यजुर्वेद की आवृत्ति की प्रणाली है। वस्तुतः मैंने यजुर्वेद के ही मंत्रों की आवृत्ति की थी। वेदगान से शुरू करके ध्रुपद खयाल के राग मानलय की उन्होंने खूब बारीकी से खोज की है—उनको सहज में धोखा देने का उपाय नहीं है। वे भारतवर्षीय संगीत के सम्बन्ध में पुस्तक लिख रहे हैं।

श्रीमती मड्मेकार्थी के लेख 'माडर्न रिव्यू' पत्रिका में कभी-कभी निकल चुके हैं। बचपन से ही संगीत में इनकी असाधारण

प्रतिभा रही है। नौ वर्ष की अवस्था से ही इन्होंने खुली सभा में बेहला बजाकर श्रोताओं को आश्चर्य में डाल दिया है। दुर्भाग्यवश इनके हाथ में स्नायुघटित रोग हो जाने से इनका बजाना बन्द हो गया है। इन्होंने भारतवर्ष में रहकर कुछ दिन विशेष रूप से दक्षिण भारत के संगीत की आलोचना की है, ये भी उस सम्बन्ध में पुस्तक लिखने लगी हैं।

एक दिन डाक्टर कुमारस्वामी के एक निमंत्रणपत्र में मैंने पढ़ा, वे मुझे रतनदेवी का गान सुनावेंगे। रतनदेवी कौन हैं मैं समझ न सका। मैंने सोचा कोई भारतवर्षीय महिला होंगी। मैंने देखा, वे अंग्रेज महिला हैं, जहाँ से निमंत्रण मिला है, उस स्थान की वे हैं गृहस्वामिनी।

फर्श के ऊपर बैठकर गोद में तम्बूरा लेकर वे गाने लगीं। मैं आश्चर्य में पड़ गया। यह तो 'हिली मिली पनिया' नहीं था, विधिवत् अलाप कर उन्होंने कनाड़ा मालकोष बेहाग गान गाया। उसमें सभी कठिन मीड़ और तान लगा दिये, हाथ के इंगित से ताल देने लगीं, विलायती झाड़न चलाकर हमारे संगीत से उसकी भारतीयता को उन्होंने बारह आने परिमाण में पोंछ रगड़कर हटा नहीं दिया। हमारे उस्ताद के साथ पार्थक्य यह है कि इनके कंठस्वर में कहीं भी मानो कोई बाधा नहीं है। शरीर की मुद्रा में या गले के सुर में किसी कष्टकर प्रयास का लक्षण दिखाई नहीं पड़ा। गान की मूर्ति बिलकुल ही अक्षुण्ण अक्लान्त होकर दिखाई पड़ने लगी।

इस देश में यहाँ जो लोग भारतवर्षीय संगीत की आलोचना में लगे हुए हैं, ये लोग केवल अपना कौतूहल चरितार्थ कर रहे हैं, ऐसी बात नहीं है। इन लोगोंने इसमें एक अपूर्व सौन्दर्य देख लिया है, उस रसको ग्रहण करने के लिए, यहाँ तक कि यथा-

सम्भव अपने संगीत का अंगीभूत बनाने के लिए ये लोग उत्सुक हो गये हैं। इनकी संख्या अभी तक अत्यन्त थोड़ी है इसमें संदेह नहीं, किन्तु एक कोने में भी यदि आग लग जाय, तो वह अपने तेज से चारो तरफ फैल जाती है।

यहाँ की लण्डन एकाडमी आव म्यूजिक के अध्यक्ष डाक्टर मर्केटूटर के साथ मेरी भेंट हुई है। उनको भारतवर्षीय संगीत का कुछ कुछ परिचय मिला है। लन्दन में इस संगीत-आलोचना का एक उपाय करने के लिए उन्होंने मेरे सामने बारबार उत्सुकता दिखायी है। यदि कोई भारतवर्षीय धनवान राजा किसी बड़े उस्ताद वीणावादक को यहाँ कुछ दिन के लिए रख सकें तो उस हालत में उनके मतानुसार बहुत उपकार हो सकता है।

उपकार हम लोगों का ही सबसे अधिक है। क्योंकि, अपने शिल्पसंगीत के प्रति हम श्रद्धा खो चुके हैं। हमारे जीवन के साथ उसका योग बहुत ही क्षीण हो गया है। नदी में जब भाटा पड़ता है, तब केवल कीचड़ निकलने लगता है। हमारे संगीत की नदी में ज्वार का अन्त हो चुका है इसलिए हमलोग आजकल उसके तले की पंकिलता में लोट रहे हैं। उसमें स्नान करने का उलटा काम होता है। हमारे घर-घर में ग्रामोफोन में जो सब सुर बज रहे हैं थियेटरों से हम जो सब गान सीख रहे हैं, उसे सुनने से ही हम समझ सकेंगे कि, हमारे चित्त की दरिद्रता में कुत्सितता केवल प्रकट ही हो गयी है ऐसी बात नहीं, उस कुत्सितता को ही हमलोग अंग का भूषण कहकर धारण कर रहे हैं। सस्ती नकली चीजों को कोई बिलकुल ही संसारसे हटा नहीं सकता। एक दल मनुष्य सभी समाजों में मौजूद हैं, उनकी संगति उससे ऊपर उठ नहीं सकती—किन्तु, जब उन्हीं सब लोगों से देश छा जाता है, तभी सरस्वती सस्ते मूल्य की पेचदार पुतली बन जाती हैं।

तभी हमारी साधना कमजोर हो जाती है और सिद्धि भी उसके अनरूप होने लगती है। इस कारण अब ग्रामोफोन और कन्सर्टपार्टी के जंगली पौधों से देश देखते-देखते भर जायगा। जिस सोने की फसल की खेती जरूरी है, वह फसल नष्ट होती जा रही है।

एक दिन मुझे डाक्टर कुमारस्वामी ने कहा था, 'शायद ऐसा समय आवेगा, जब तुम लोगों को अपने संगीत का परिचय प्राप्त करने के लिए यूरोप जाना पड़ेगा।' अपने देशकी बहुत सी-चीजों को ही यूरोप के हाथ से पाने के लिए हम हाथ पसार बैठे हुए हैं। अपने संगीत को भी एक बार समुद्रपार भेजकर जब हम उसे फिर वापस पा जायँगे तभी सम्भवत: हम अच्छी तरह पा जायँगे। हम ने बहुत दिन अपने घरों के कोने में बिताये हैं, इस कारण किसी चीज का बाजारभाव हम नहीं जानते। अपनी ही चीजों की जाँच कर हम उसे लेंगे, कहाँ हमलोगों का गौरव है, इसे लिखितरूप से समझेंगे, यह शक्ति हममें नहीं है।

जहाँ मनुष्य की सभी चेष्टाएँ प्रचुर प्राणशक्ति से बराबर तरह-तरहके आकारों से फैल रही हैं, जहाँ मनुष्य की सारी सम्पदा जीवन के बृहत् कारोबार में लग रही है और मुनाफे से बढ़ती जा रही है वहाँ ही अपनी सामग्री को न लाने से, उस चालू कारबार के साथ शामिल न हो सकने से, हम अपना परिचय न पा सकेंगे। इस कारण हम लोगों की बहुत शक्तियाँ केवल नष्ट होती रहेंगी। पीछे कहीं, यूरोप के संसर्ग से हम अपने को भूल न जायँ, यही भय की बात ही हम सुनते आ रहे हैं, किन्तु यह सच नहीं है, उसकी उलटी बात ही सच है। इस प्रबल सजीव शक्ति के प्रथम संघात से कुछ समय के लिए हम दिशा खो देते हैं किन्तु अन्त में हम अपनी प्रकृति को ही अधिक जाग्रत बना कर पाते हैं।

यूरोप के प्राणवान साहित्यने हमारे साहित्य के प्रयासको जगाया है, वह जितना ही बलवान् होता जा रहा है उतना ही अनुकरण के हाथ से बच कर हमें आत्मप्रकाश की राह में अग्रसर करता जा रहा है। हमारी शिल्प-कलाओं में सम्प्रति जो उद्बोधन दिखाई पड़ रहा है—उसके मूल में भी यूरोप की प्राणशक्ति का आघात मौजूद है। हमारा विश्वास है संगीत में भी हमें उसी बाहरी सम्पर्क की जरूरत आ पड़ी है। उसे, पुराने ढाँचे के लोहे के सन्दूक से निकाल कर विश्व के बाजार में चलाना पड़ेगा। यूरोपीय संगीत के साथ अच्छी तरह परिचय हो जाने से ही हम अपने संगीत को यथार्थतः बड़े रूप में व्यवहार करना सीखेंगे। दुःख की बात है, संगीत हमारे यहाँ के शिक्षित लोगों की शिक्षा का अङ्ग नहीं है, हमारे कालेज नामक किरानीगिरी के कारखाने में शिल्पसंगीत को कोई जगह नहीं है, और आश्चर्य की बात यह है कि, जिन विद्यालयों को हमने नेशनल नाम देकर खोला है, वहाँ भी कलाविद्या का कोई आसन बिछाया नहीं गया है। मनुष्य के सामाजिक जीवन में इसकी आवश्यकता कितनी अधिक है, नोट कंठस्थ करते-करते, डिग्रियाँ लेते-लेते उस समझ तक को हमने पूरा खो दिया है। इस लिए सगीत आज तक उन्हीं अशिक्षित लोगों में ही आबद्ध है, जिनके सामने विश्व का प्रकाश नहीं है, जिन लोगों ने असमर्थ स्त्रियों की तरह अपना समस्त धन गहने गढ़ा कर रख छोड़ा है, उन्हें वे केवल ढो ही सकती हैं, पूर्ण रूप से उनको काम में नहीं ला सकतीं, यहां तक कि काम में लाने की बात का आभास देने के साथ ही वे लोग आतंकित हो उठती हैं—सोचती हैं यह तो सर्वस्व खो देने की व्यवस्था है।

इस कारण, अपना धन जब हम लोग अच्छी तरह व्यवहार

न कर सके; तब जो लोग कर सकते हैं, वे लोग एक दिन इसको अपने रोजगार में लगावेंगे, इसको संसार के काम में लगाने की राह में लायेंगे। हमें उसी दिन के लिए प्रतीक्षा करके ठहरना पड़ेगा। उसके बाद हम गर्व करेंगे कि, हमारे पास जो है, संसार में वैसा और किसी के पास नहीं है, और गर्व करने की वह सामग्री भी दूसरे लोगों को जुटा देनी पड़ेगी।

१७

समाजभेद

हम जब विलायत यात्रा करते हैं तब वह केवल एक देश से दूसरे देश में जाना ही नहीं होता, हमारे लिए वह एक नये संसार में प्रवेश करना हो जाता है। जीवन-यात्रा के जितने भी बाह्य प्रभेद हैं, उनसे बहुत कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। हमारे साथ पहनावे में, सजावटों में आहार-विहार में विदेशी का मेल न रहेगा, यह तो सुनिश्चित बात है, इसलिए वहाँ कोई विशेष रुकावट नहीं है। किन्तु, केवल जीवन-यात्रा में नहीं, जीवन-तत्त्व में एक स्थान पर हम लोगों में भारी बेमोल है, वहाँ ही दिशा निर्णय करना हमारे लिए कठिनहो जाता है।

जहाज पर चढ़ते ही हम पहले यही अनुभव करने लगते हैं। हम समझ लेते हैं अब से हमें एक दूसरे संसार के नियमों से चलना पड़ेगा। हठात् इतना परिवर्तन मनुष्य के लिए अरुचिकर हो जाता है। इसी कारण हम उसको अच्छी तरह समझ कर देखने की चेष्टा नहीं करते, किसी तरह मानकर चलते हैं, अथवा मनही मन चिढ़कर कहते हैं, इन लोगों का चाल-चलन बहुत अधिक कृत्रिम है।

असल बात यह है कि, इन लोगों के साथ हमारी सामाजिक अवस्था का जो फर्क है वही बहुत बड़ा है। परिवार और ग्राम-मण्डली की सीमा पर पहुँच कर हमारा समाज रुक गया है। उस सीमा के बीच ही परस्पर के व्यवहार के सम्बन्ध में हमारे यहाँ कुछ बँधे हुए नियम हैं। उस सीमा की तरफ दृष्टि रखकर ही, हमें क्या करना चाहिये, और क्या न करना चाहिये, यह निर्दिष्ट किया गया है। उन नियमों में बहुत सी कृत्रिमता भी है, बहुत सी स्वाभाविकता भी है।

किन्तु जिस समाज की ओर लक्ष्य रख कर ये नियम बनाये गये हैं, उस समाज की परिधि बड़ी नहीं है और वह समाज है आत्मीय समाज। इस कारण हमारे अदब-कायदे घरेलू किस्म के हैं। पिता के सामने तमाखू न पीना चाहिये, गुरु महराज के पैरों की धूल माथे पर चढ़ा उनको दक्षिणा देनी चाहिये, भसुर को देखकर मुँह ढक लेना चाहिये, और मामा-ससुर के साथ निकट सम्पर्क छोड़ देना चाहिये। इस परिवार या ग्राममण्डली के बाहर जिस नियम की धारा चल रही है वह मोटे रूप में वर्ण भेदमूलक है।

यह कहना पड़ता है कि वर्णाश्रम के सूत्र ने हमारे ग्राम-समाज को और परिवार-मण्डली को हार की तरह गूँथ रखा है। हम लोग एक समाप्ति पर पहुँच गये हैं। भारतवर्ष अपने समाज में समस्या का एक सम्पूर्ण समाधान कर चुका है और सोच चुका है कि, इस अवस्था को चिर-काल के लिए पक्का बनाकर रख सकने से ही उसे और कोई चिन्ता न रहेगी। इस कारण वर्णाश्रम सूत्र के द्वारा परिवार-समाज को बाँध रखने के विधान को सब ओर से दृढ़ बनाने की तरफ ही आधुनिक भारतवर्ष की सारी चेष्टाएँ काम करती आयी हैं।

भारतवर्ष के सामने जो समस्या थी, उसके किसी एक समाधान पर भारतवर्ष पहुँच सका था, यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी। विचित्र जाति के विरोध को उसने एक तरह से दूर कर दिया है, विचित्र श्रेणी के विरोध को उसने एक तरह से ठंढा कर दिया है, वृत्तिभेद के द्वारा भारतवर्ष में प्रतियोगिता के द्वन्द्व-युद्ध को उसने बन्द कर दिया है, और धन और शक्ति का भेद जिस अभिमान को उत्पन्न करता है, उसके संघात को उसने जाति-भेद के घेरे से रोक रखा है। एक तरफ यद्यपि भारतवर्ष ने समाज के नेता ब्राह्मणों के साथ दूसरे वर्णों की स्वतन्त्रता को सब तरह के उपायों से आकाशभेदी बना दिया है, दूसरी तरफ वैसे ही सारी सुख-सुविधाओं, शिक्षा-दीक्षाओं को सर्वसाधारण के बीच संचारित कर देने के लिए तरह-तरह की छोटी-बड़ी प्रणालियों का विस्तार कर दिया है। इस लिए भारतवर्ष में धनवान जो भोग करते हैं, तरह-तरह के उपलक्ष्यों से सर्वसाधारण उसका अंश पाते हैं और जनसाधारण को आश्रय देकर और सन्तुष्ट करके ही शक्ति-शाली की शक्ति प्रसिद्धि प्राप्त करती है। हमारे देश में धनी-दरिद्र के प्रचण्ड संघात का कोई कारण नहीं है, और असमर्थ दुर्बल को कानून से बचा रखने की भी कोई विशेष आवश्यकता उपस्थित नहीं हुई है।

पाश्चात्य समाज पारिवारिक समाज नहीं है; वह है जन-समाज। वह हमलोगों के समाज से बड़ा है। घरों में वह उतने परिमाण में नहीं है जितने परिमाण में वह बाहर है। हमारे देश में परिवार कहने से जो चीज समझी जाती है उसने यूरोप में बाँध नहीं दिया है, इसी लिए यूरोप में मनुष्य बिखर गये हैं।

इस फैले हुए समाज का स्वभाव ही यही है—एक तरफ बंधन जैसा ढीला है, दूसरी तरफ वह वैसा ही विचित्र और दृढ़ हो

जाता है। वह है गद्य रचना की तरह। पद्य छन्दों की संकीर्ण सीमा में बन्द होकर चलता है, इसी लिए उसका बन्धन सहज है, किन्तु गद्य फैल गया है, इसीलिए एक तरफ वह स्वाधीन तो है जरूर, और दूसरी तरफ उसका पद-क्षेप युक्तियोंसे, चिन्ता विकास के विचित्र नियमों से बड़े रूप में बँधा हुआ है।

अँग्रेज-समाज विस्तृत क्षेत्र में रहने के कारण और उसके सभी कारबारों को बाहर फैलाकर चलाना पड़ा है इसीलिए तरह तरह के सामाजिक विधानों के द्वारा उसे सब समय ही तैयार रहना पड़ा है। साधारण कपड़ा पहनने का समय उसके पास कम है। उसको सज-धज कर रहना पड़ता है, क्योंकि वह आत्मीय-समाज में नहीं है। आत्मीय लोग क्षमा करते हैं, सह लेते हैं, किन्तु बाहर के लोगों से प्रश्रय की आशा नहीं की जा सकती। प्रत्येक को प्रत्येक काम पर ठीक समय के अनुसार जाना ही पड़ता है, नहीं तो एक दूसरे की गरदन पर गिर पड़ेंगे। रेल की लाइन यदि केवल मेरी हो रहे अथवा मेरे इने-गिने कुछ इष्ट-मित्रों के अधिकार में रहे तो उस हालत में हम अपनी खुशी से गाड़ी चला सकते हैं, और परस्पर की गाड़ी को इच्छानुसार जहाँ-तहाँ खड़ी रख सकते हैं, किन्तु सर्वसाधारण के रेल लाइन में, जहाँ बहुत से गाड़ियों का आना-जाना होता रहता है वहाँ पाँच मिनट समय का हेर-फेर हो जाने से ही बहुत गड़बड़ी मच जाती है, और उसको सहना कठिन हो जाता है। हमारा समाज अत्यन्त घरेलू होने के कारण ही अथवा वह घरेलू अभ्यास हमारा मज्जागत होने के कारण ही परस्पर के सम्बन्ध में हमारे व्यवहारों में देश-काल का बन्धन अत्यन्त ढीला है—हम इच्छानुसार जितनी जगह चाहे छेंक बैठते हैं, समय नष्ट करते हैं, और व्यवहार के नियमों को आत्मीयता का अभाव कह कर

निन्दा करते रहते हैं। अँग्रेजी समाज में उसी जगह हमें सर्व-प्रथम रुकावट मालूम होती है, जहाँ बाह्य व्यवहारों में अपनी इच्छा के अनुसार, जैसा तैसा करके सब से क्षमा पानेकी आशा करने का अधिकार किसी को नहीं है। मोटे तौर से जिस बात से सबको सुबिधा मिले उसका ही अनुसरण करके इन लोगों ने तरह-तरह के बन्धनों को स्वीकार किया है। इन लोगों की भेंट-मुलकात, इनके निमन्त्रण-आमन्त्रण, इनकी वेशभूषा आदर-अभ्यर्थनाके नियमों को पक्का बनाकर रखना पड़ा है। जो वस्तुतः आत्मीय समाज नहीं है, वहाँ आत्मीय समाज में ढीला नियम चलाने से ही सब कुछ अत्यन्त वीभत्स हो जाता है और जीवन-यात्रा असम्भव हो उठती है।

यूरोप का यह व्यापक समाज अभी तक किसी भी समाधान पर नहीं पहुँचा है। उसने आचार-व्यवहार में बाहर की तरफ एक नियम के अनुसार अपने को संयत और श्रीसम्पन्न बनाने की चेष्टा की है, किन्तु समाजके भीतर की शक्तियाँ अभी तक अपने आप को किसी एक ऐक्य सूत्र में बाँधकर परस्पर के संघर्ष को पूर्णरूप से बचा कर चलने की व्यवस्था नहीं कर सकतीं। यूरोप केवल ही परीक्षा-परिवर्तन और विप्लव के भीतरसे चल रहा है। वहाँ स्त्रियों के साथ पुरुषों का धर्म-समाज के साथ कर्म-समाज का, राजशक्ति के साथ प्रजा-शक्ति का, कारबारी दल के साथ मजदूर-दल का केवल द्वन्द्व छिड़ता जा रहा है। चन्द्र-मण्डल की भाँति उसका जो कुछ होना था, वह हो नहीं गया है— अभी तक उसका ज्वाला-मुखीपर्वत आग उगिलनेके लिए तैयार है।

किन्तु हमलोग ही सभी समस्याओं का समाधान कर, समाजव्यवस्था को चिरकाल को तरह पक्का बना मृत शरीर की भाँति निश्चिन्त हो कर बैठे हुए हैं, यह बात कहने से काम

कैसे चलेगा। समय बीत जाने पर भी व्यवस्था को कुछ दिनों के लिए खड़ी रख सकते हैं, किन्तु अवस्था को तो उसके साथ हम बाँधकर नहीं रख सकते। समूचे संसार के साथ हम आमने-सामने होकर खड़े हैं, अब घरेलू समाज को लेकर हमारा काम चल ही नहीं सकता—ये लोग केवल हमारे बाप-दादा चाचा नहीं हैं, ये लोग बाहर के आदमी हैं, ये लोग देश-विदेश के आदमी हैं; इन लोगों के साथ व्यवहार करने के लिए हमें सतर्क और सचेष्ट होना ही पड़ेगा, अन्यमनस्क हो कर यदि हम ढील-ढाल होकर चलते ही जायँगे तो एक दिन अवश्य ही अचल हो उठेंगे।

हम सनातन प्रथा की दुहाई देकर गर्व किया करते हैं, किन्तु यह बात बिलकुल ही सच नहीं है कि, भारतवर्षका समाज इतिहास के बीच से परिवर्तित नहीं हुआ है। भारतवर्ष को भी अवस्था-भेद से नवनव विप्लवों की ताड़ना से अग्रसर होना पड़ा है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है—और इतिहास में इसके उदाहरण मिलते हैं। किन्तु उसका चलना बिलकुल ही समाप्त हो गया है, अब से वह अनन्तकाल तक सनातन बनकर बैठा रहेगा, ऐसी अद्भुत बात हम मुँह से उच्चारण भी नहीं कर सकते। एक-एक बड़े विप्लव के बाद समाज में क्लान्ति आ जाती है, उस समय वह उस द्वार को बन्द करके, बत्ती बुझाकर, सो रहने की तैयारी करता है। बौद्ध विप्लव के बाद भारतवर्ष कड़े नियमों के कब्जे से सभी दरवाजों को बन्द कर बिलकुल ही स्थिर हो सो पड़ा था। उसे नींद आ गयी थी। किन्तु, इसको अनन्त नींद कहकर गर्व करने से वह हास्यास्पद साथ ही सकरुण हो उठेगा। नींद तभी तक अच्छी है, जब तक रात रहती है—जबतक बाहर लोगों की भीड़ नहीं लगती है, जबतक बड़ी बड़ी दूकानें

और बड़े बड़े बाजार बन्द रहते हैं। किन्तु, सबेरे जब चारो तरफ पुकार-बुलाहट होने लगी है, तुम्हारे चुपचाप पड़े रहने पर भी, जब कि और कोई चुप नहीं है, तब सनातन दरवाजों को चारो तरफ से बन्दकर रखने से अत्यन्त धोखा खाना पड़ेगा।

रात के समय का विधान सीधासादा है, उसका आयोजन थोड़ा है, उसकी आवश्यकता थोड़ी है। इस कारण सारी व्यवस्थाओं को सहज ही में पूरा कर निरुद्विग्न हो आँखें बन्द कर लेना सम्भव हो जाता है, तब हमलोग जहाँ जिसे रखते हैं, वहाँ ही वह पड़ा रहता है; क्योंकि उसे हिलानेवाला कोई नहीं रहता। दिन के समय की व्यवस्था उतनी सहज नहीं होती, और उसे भोर में ही बिलकुल ही पूरा करके उसके बाद सारा दिन निश्चिन्त होकर तमाखू पीते रहने से काम नहीं चलता। गरदन पर काम आ पड़ते हैं, नयी नयी चेष्टाएँ करनी ही पड़ती हैं, और बाहरके जीवनस्रोत के साथ अपनी जीवन-यात्रा को बना न सकने से खाने-पीने और काम-काज में सबकुछ में ही विघ्न पड़ते रहते हैं।

कुछ दिनों के लिए भारतवर्ष अत्यन्त बँधे नियमों की निश्चल व्यवस्था में स्वच्छन्दता से रात बिताता रहा है। वह व्यवस्था खूब आराम की बनी रहेगी, ऐसी बात नहीं है। आघात सबसे अधिक कठोर वेदनाजनक होता है, जब कि वह सोये हुए शरीर पर आ पड़ता है। दिन में ही उस आघात का समय रहता है इस कारण दिन में जागते रहना ही सबसे अधिक आराम की बात है।

हम इच्छा करें या न करें, समूचे शरीर में आलस्य लिपटा रहे या न रहे, हमारे जागते रहने का समय आ गया है। हमलोग समाज के भीतर से और बाहर से आघात पा रहे हैं, दुःख पा रहे हैं। हम दैन्य से, दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं। समाज-व्यवस्था टूटने

लगी है; संयुक्त परिवार टुकड़ा-टुकड़ा होता जा रहा है; और समाज में ब्राह्मण का पद क्रमशः इतना छोटा होता जा रहा है कि ब्राह्मण-समाज, प्रभृति सभासमितियों की सहयता से ब्राह्मण के चीत्कार शब्द से अपने-आप को घोषितकर वह अपनी दुर्बलता सिद्ध करता जा रहा है। ग्राम-समाज की पंचायत-प्रथा, गवर्नमेंट का चपरास गले में बाँधकर आत्महत्या करके भूत बन गाँव की छाती को दबा रही है, देश के अन्न से संस्कृत पाठशालाओं का पेट अब नहीं भरता, दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर एक एक करके वे सरकारी अन्नसत्रों की शरण में चली जा रही है; गाँव-देहात के धनी-मानी लोग जन्म-स्थानों की बत्ती बुझाकर कलकत्ते में मोटरों पर सवार हो घूम रहे हैं, और बड़े बड़े कुलीन व्यक्ति अपना यथा-सर्वस्व और अपनी कन्या को लेकर बी० ए० पास वरके पैरों पर झूठमूठ ही माथा पटक कर मर रहे हैं। इन सब दुर्लक्षणों के लिए कलियुग को, विदेशी राजा को या स्वदेशी अँग्रेजीनवीश लोगों को गालियाँ देने से कोई फल नहीं मिल सकता। असल बात यह है कि, हमारे दिन के मालिक ने अपने चपरासी को भेज दिया है, हमें हमारे सनातन शयनकक्ष से खींच कर बाहर निकाले बिना न छोड़ेगा। बलपूर्वक आँखें बन्द कर हम लोग असमय में रात न पैदा कर सकेंगे। जो संसार हमारे द्वार पर आ पहुँचा है, उसे अपने घरों में बुलाकर लाना ही पड़ेगा; यदि आदर करके हम उसे न लावेंगे, तो वह हमारे दरवाजों को तोड़ कर प्रवेश करेगा। दरवाजा क्या अभी तक टूटा नहीं है।

इस कारण, फिर एक बार हम लोगों को नये सिरे से समस्या-समाधान के लिए सोचना पड़ेगा। यूरोप की नकल करने से वह काम न चलेगा; किन्तु यूरोप से हमें शिक्षा लेनी पड़ेगी। शिक्षा

लेना और नकल करना एक ही बात नहीं है। वस्तुतः, अच्छी तरह शिक्षा लेने से ही नकल करने के रोग से छुटकारा मिलता है। दूसरे को सच्चे रूप में न जान लेने से अपने को कभी सच्चे रूप में जाना नहीं जाता।

किन्तु, मैं जो कुछ कह रहा था, वह यह है कि, हमें अपने घरेलू ढीले-ढाले अभ्यासों के कारण यूरोपीय समाज में हमें बड़ी रुकावटें पड़ती हैं। किसी तरह भी हम तैयार नहीं हो सकते। मालूम होता है, सभी हमें ठेल कर चले जा रहे हैं, कोई हमारे लिए जरा भी प्रतीक्षा नहीं कर रहा है। हम आदर-प्यार के जीव हैं, आत्मीय समाज के बाहर हमें बड़ी विपत्ति मिलती है। मैंने यहाँ आकर यह लक्ष्य करके देख लिया, हमारे घरों के लड़कों को पराये घरों में प्रवेश करने का अभ्यास नहीं है, इसी लिए हमारे अधिकांश छात्र यहाँ आकर पाठ कंठस्थ करते हैं, किन्तु यहाँ के समाज के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखते। यहाँ का समाज बड़ा है इसीलिए यहाँ के समाज का दायित्व अधिक है। उस दायित्व को स्वीकार करने से ही यहाँ के लोगों के साथ सामाजिक क्षेत्र में हम लोगों का मेल हो सकता है। वह मेल न होने से यहाँ की सबसे बड़ी शिक्षा से हम वंचित हो जायँगे। क्योंकि यहाँ का सबसे बड़ा सत्य है यहाँ का समाज। वस्तुतः यहाँ का सबसे बड़ा वीरत्व बड़ा महत्व यहाँ के सामाजिक क्षेत्र में है, युद्धक्षेत्र में नहीं है। प्रशस्त समाज का उपयोगी त्याग और आत्म सम्मान यहाँ पग पग पर प्रकट हो रहा है। यहाँ के लोग आदमी बन रहे हैं और विभिन्न मार्गों में मनुष्यों के कामों में अपने को दान करने के लिए ये लोग तैयार हो रहे हैं। आधुनिक भारतवर्ष का शिक्षित भद्रसम्प्रदाय अपने देश में भी स्कूल की शिक्षा को ही शिक्षा कहकर गणना करते हैं—वृहत् सामाजिक शिक्षा से वे वञ्चित

हैं; यहाँ आकर भी यदि वे लोग स्कूल के कारखाने में प्रवेश कर केवल यन्त्र की सामग्री बन निकल जायँ, यहाँ के समाज में प्रत्यक्ष मनुष्यत्व के जन्मस्थान में प्रवेश न करें, तो वे विदेश में आकर भी वञ्चित होंगे।

१८

सीमा की सार्थकता

यह बात कभी-कभी सुन चुका हूँ कि कवित्व में जीवन की सम्पूर्ण सार्थकता नहीं है। ईश्वर की साधना को काव्यालंकार के क्षेत्र से हटाकर उसे संसार में कर्म-क्षेत्र में प्रतिष्ठित न कर देने से वह सत्य की दृढ़ता प्राप्त नहीं कर सकती।

कभी-कभी थकावट के दिन खुद भी मैंने यह बात सोची है। किन्तु मैं जानता हूँ, ऐसी चिन्ता मन में मरीचिका-विस्तार मात्र है। मनुष्य का जो रिपु उसके कानों में मिथ्या मंत्र जपता है, उनमें लोभ अग्रगण्य है। वह मनुष्य को यह बात कहता है, 'तुम जो हो उसमें सत्य नहीं है, उसके बाहर ही सत्य है।'

किन्तु, उपनिषत् ने कहा है—मा गृधः कस्यस्विद्धनम्—किसी के धन पर लोभ मत करना। अर्थात् तुम्हारी सीमा के बाहर जो कुछ है उसके पीछे चित्त को और चेष्टा को दौड़ा मत देना।

क्यों दौड़ाना न चाहिये, इस श्लोक में यह बात भी बतायी गयी है। उपनिषत् कहते हैं, वे ही सब कुछ को आच्छन्न किये हुए हैं; इसलिए जिसमें वे हैं, जो उनका दान है, उसमें कोई अभाव ही नहीं है। अपने में जब हम ऐश्वर्य की उपलब्धि नहीं करते तभी हम समझ पाते हैं, ऐश्वर्य दूसरे में ही मौजूद है। किन्तु जिस

दीनता के कारण ऐश्वर्य को अपने अंदर में न पा सका, उसी दीनता के कारण उसे अन्यत्र पाने की आशा नहीं है।

सीमा है यह बात जिस प्रकार निश्चित है, असीम है, यह बात भी उसी प्रकार सच है। हम दोनों को जब अलग करके देखते हैं तभी हम लोग माया के कैद में पड़ते हैं। तभी हमलोग एक ऐसी भूल कर बैठते हैं कि अपनी सीमा को लांघ जाने से ही शायद हम असीम को पा जायँगे। मानो आत्महत्या करने से ही अमर जीवन मिल जाता है। मानो मैं न होकर और-कुछ हो जाने से ही मैं धन्य हो जाऊँगा। किन्तु मैं होना भी जो बात है, और-कुछ होना भी वही है, वह बात याद नहीं रहती। मेरे इस मैं में यदि व्यर्थता रह जाय, तो दूसरे किसी मैंपनको पाकर उससे छुटकारा न पाऊँगा। मेरे घड़े में छेद रहने से यदि जल निकल जाय तो वह जल का दोष नहीं है। दूध ढाल देने से वही दशा होगी, और मधु ढालने से भी तथैवच।

जीवन में केवल एक बात सोचने की है कि मैं सत्य होऊँगा। मैं कवि बनूँगा या कर्मी बनूँगा, या और कुछ बनूँगा, यह बिलकुल ही व्यर्थ चिन्ता है। सत्य होऊँगा, इस बात का अर्थ यह है, कहाँ मेरी सीमा है, इसे निश्चित रूप से समझ लूँगा। दुराशा के प्रलोभन से उसके ही सम्बन्ध में यदि मन को स्थिर न कर सकूँ, तो मैं सत्य के व्यवहार से भ्रष्ट हो जाऊँगा।

अहंकार को हमलोग रिपु कहते हैं, लोभ को हमलोग रिपु कहते हैं, उसका कारण यह है—हमारी सीमा के सम्बन्ध में वे हमलोगों को ठीक तौर से समझने नहीं देते। वे हमें अपने को जाँच लेने की तपस्या में बाधा डालकर केवल कहते रहते हैं—'तुम जो कुछ हो उससे तुम और भी कुछ अधिक हो या और कुछ ही हो, इनके कारण संसार में जितने दुःख जितने विद्वेष, जितनी छीना-

झपटी पैदा होती रहती है, उतनी और किसी से भी नहीं। जो-मिथ्या है, उसी को शरीर के बल से सच बनाने में लग जाने से संसार में सभी अमंगलों की उत्पत्ति होती है।

सीमाहीनता के प्रति हम लोगों का एक प्रबल आकर्षण है, वही आकर्षण हमारे जीवन को गति प्रदान करता है। उस आकर्षण की अवहेलाकर निश्चेष्ट बैठे रहने से मंगल नहीं हो सकता। भूमा को हमें पाना ही पड़ेगा, उस पाने में भी हमें सुख है।

किन्तु, अपनी सीमा के अन्दर ही उस असीम को प्राप्त करना होगा। सीमा के अन्दर असीम नहीं समाता, इस भ्रान्त विश्वास से हम असीम को खर्व बना डालते हैं। यह बात सच है, एक सीमा में दूसरा सीमाबद्ध पदार्थ पूरा स्थान नहीं पाता। किन्तु असीम के सम्बन्ध में वह बात लागू नहीं होती। वे एक बालुका के कण में भी असीम हैं। इसी लिए एक बालुका-कण को भी जब हम सम्पूर्ण रूप से सब प्रकार से आयत्त करने जाते हैं, तब हम देखते हैं, विश्व को आयत्त न करने से उसे पाने का उपाय नहीं है, क्योंकि, एक जगह पर निखिल के साथ वह अविच्छेद्य है। उसकी एक ऐसी दिशा है, जिस दिशा में किसी तरह भी उसे समाप्त नहीं किया जाता।

हम लोग अपनी सीमा में ही असीम के प्रकाश का समझेंगे यही है हम लोगों की साधना। क्योंकि, उस असीम के ही आनन्द ने मेरे अन्दर सीमा की रचना की है, उस सीमा में ही उनका विलास है, उनका विहार है। उनके उस निकेतन को तोड़कर उनको अधिक परिमाण में पाऊँगा, ऐसी बात समझना ही भूल है।

गुलाब-फूल में सौन्दर्य की एक असीमता है, इसका कारण यह है कि, वह पूर्ण-रूप से ही गुलाब-फूल है—इस सम्बन्ध में कोई सन्देह, कोई अनिर्दिष्टता नहीं है। इसी लिए गुलाब-फूल में ऐसा एक आविर्भाव सुस्पष्ट हो गया है, जो चन्द्र-सूर्य में है, जो जगत् की समस्त सुन्दर वस्तुओं में है। वह सुनिश्चित सत्य रूप में गुलाब-फूल है, इसी लिए समस्त जगत् के साथ उसकी आत्मीयता सत्य है।

वस्तुतः अस्पष्टता ही व्यर्थता है, इस कारण वहाँ ही भूमा का आनन्द प्रच्छन्न है। उनका आनन्द रूप-ग्रहण के द्वारा ही सार्थक हैं। जो असीम है, वे सीमा के अन्दर ही सत्य हैं, सीमा के अन्दर ही सुन्दर हैं। इसी लिए जगत्-सृष्टि के इतिहास में रूप का विकास केवल सुव्यक्त होता जा रहा है, सीमा से सीमा की तरफ असीम की अभिसार-यात्रा चल पड़ी है, कली से फूल, फूल से फल, केवल ही रूप से व्यक्ततर रूप है।

इस कारण ही अपने को स्पष्ट करके पाना ही मनुष्य की साधना है। स्पष्ट रूप से पाने का अर्थ ही है सीमाबद्ध बना कर पाना। जब ही तरह तरह के मार्गों में तरह तरह की दुराशाओं की विक्षिप्तता से अपने को संहत करके सीमा के अन्दर अपने को स्पष्ट रूपसे खड़ा किया जाता है, तभी हम जीवन की सार्थकता पा जाते हैं।

जब तक हम तैरना नहीं सीखते, तब तक इधर-उधर हाथ-पैर फेंकना चलता रहता है। अच्छा तैरना ज्यों ही हम सीख लेते हैं त्यों ही हमारी चेष्टा सीमाबद्ध हो जाती है और वह सुन्दर बनकर प्रकट होती है। चिड़िया जब उड़ती है, तब सुन्दर दिखाई पड़ती है, क्योंकि उसके उड़ने में दुबिधा नहीं है, वह सुनियत है, अर्थात् वह अपनी निश्चित सीमा को पा चुकी

है। इस सीमा को पाना ही सृष्टि है अर्थात् सत्य है, और सीमा के द्वारा असीम को पाना ही सौन्दर्य अर्थात् आनन्द है। सीमा से भ्रष्ट होना ही कदर्यता है, वही है निरानन्द, वही है विनाश।

काव्यालंकार तभी व्यर्थ हो जाता है जब ही वह मिथ्या है—अर्थात् जब ही वह अपनी सीमा को न पाकर और कुछ पाने की चेष्टा करने लगता है, तभी वह भान करता है, तभी वह छोटे को बड़ा बनाकर दिखाता है, बड़े को छोटा बनाकर लाता है। तब ही वह बात ही बात रह जाता है, वह सृष्टि नहीं रहता। किन्तु, कवि जहाँ सत्य है, जहाँ वह अपने असीम का अपनी सीमा में प्रतिष्ठित करता है, अपने आनन्द को अपनी शक्ति में मूर्ति प्रदान करता है, वहाँ ही वह सृष्टि करता ह। जगत् की सभी सृष्टियों में ही उसका स्थान है। सत्यकर्मी जिस कर्म को सृष्टि करता है, सत्य साधक जिस जीवन का निर्माण करता हं, सत्य के ही साथ एक पंक्ति में आसन लेने का अधिकार उसका है। कर्लाइल आदि वाक्य-रचयिताओं ने वाक्यों की अपेक्षा काम को जा बड़ा स्थान दिया है, सोच-विचार करके देखने से उसका यही अर्थ समझ में आता है कि, वे लोग मिथ्या वाक्यों की अपेक्षा सत्य कार्य को गौरव देना चाहते हैं। उसके साथ यह भी बता देना ठीक है कि, मिथ्या कामों की अपेक्षा सत्य वाक्य बहुत बड़े होते हैं।

असल बात यह है, सत्य जिस किसी भी आकार में हो प्रकट क्यों न हो, वही है मनुष्य की चिर सम्पद। जिस तरह रुपया जहाँ सत्य है-अर्थात् शक्ति जहाँ रुपये के आकार में प्रकट होती है, वहाँ वह रुपया केवल रुपया ही नहीं है, वह अन्न भी अवश्य है, वस्त्र भी अवश्य है, शिक्षा भी है, स्वास्थ्य भी है, तब वह रुपया सत्य मूल्य की सीमा में सुनिर्दिष्ट रूप से बद्ध होने के ही

कारण अपनी सुनिर्दिष्ट सीमा को अतिक्रम कर जाता है, अर्थात् वह अपने सत्य मूल्य के ही द्वारा अपने बाहर के विविध सत्य पदार्थों के साथ सम्मिलित हो जाता है। उसी तरह सत्य कविता के साथ मनुष्य की सब तरह की सत्यसाधना का योग भी समता रखता है। सत्य कविता केवल कुछ वाक्यों में कविता के आकार में ही नहीं रहती। वह मनुष्य के प्राणों में मिलकर कर्मी के कर्म और तपस्वी की तपस्या के साथ मिलती रहती है। यह बात निःसन्देह है कि, कवि की कविता यदि संसार में न रहती तो मनुष्य-जीवन के सब तरह के अर्थ ही दूसरे प्रकार के होते। क्योंकि, मनुष्य के सत्य वाक्य चिरदिन ही मनुष्य के सत्य कर्मों के साथ मिलते जा रहे हैं, उसको शक्ति दे रहे हैं, मूर्ति दे रहे हैं, उसके मार्ग को लक्ष्य की तरफ बढ़ाते जा रहे हैं।

इस कारण, यह बात हमें विशेष रूप से याद रखनी पड़ेगी कि सत्य सीमा का पाना ही सत्य असीम को पा लेने का एकमात्र मार्ग है। अपनी सीमा को लांघ जाने से ही अपने असीम को लांघ जाना होता है। संसार में कविता में या कर्मों में या धर्म-साधना में जो कोई मनुष्य सत्य बना है उसके साथ अन्य साधारण लोगों का फर्क यही है कि उसने असीम की सीमा को स्पष्ट रूप से आविष्कार किया है, दूसरे सभी सीमा-भ्रष्ट अस्पष्टता के बीच जैसे-तैसे घूमते-फिरते हैं। यह अस्पष्टता ही तुच्छ है। नदी जब अपनी तट-सीमा को पा जाती है, तभी वह असीम समुद्र की तरफ दौड़ती हुई जा सकती है; यदि वह अपने ऊपर असन्तुष्ट होकर और भी बड़ी होने के लिए अपने तटों को विलुप्त कर दे, तो उस हालत में उसकी गति रुक जाती है और वह तुच्छ झील में, ताल में फैल जाती है।

यह बात याद रखनी पड़ेगी, अपनी सत्य सीमा में आबद्ध होना

संकीर्णता नहीं है, निश्चेष्टता नहीं है। वस्तुतः उस सीमा के सिंहासनपर प्रतिष्ठित होने से ही मनुष्य उदार बनता है, उस सीमा के अन्दर पकड़े जाने से ही मनुष्य की चेष्टा वेगयुक्त हो उठती है। व्यक्ति व्यक्ति-हो जाने से ही मनुष्यों में गिना जाता हैं; जाति जातीयत्व लाभ के द्वारा ही सब जातियों में स्थान पा सकती है। जिस जाति ने जातीयता प्राप्त नहीं की है वह विश्व-जातीयता को खो चुकी है, जो आदमी बड़ा आदमी है, वही मनुष्य सबसे अधिक विशेष रूप से अपने को पा गया है। जो व्यक्ति अपने को पा गया है, उसको फिर जड़ता में पड़े रहने का उपाय नहीं है, वह अपना काम पा गया है, वह अपना स्थान पा गया है, वह अपना आनन्द पा गया है; नदी की तरह द्विधा के विना अपने वेग से आप ही चलता रहता है, उसकी सत्य सीमा ही सत्य परिणाम की तरफ उसको सहज ही चलाकर ले जाती है

आविरावीर्म एधि। जो प्रकाश स्वरूप हैं, वे मेरे अन्दर, मेरी सीमा में प्रकाशित हो जायँ। यही है हमारी सत्य प्रार्थना। यदि मैं अपनी सीमा की अवज्ञा करूँगा तो मैं उस असीम के प्रकाश को बाधा दूँगा। पाहि मां नित्यम्। सर्वदा मेरी रक्षा करो। मेरे सत्य में, मेरी सीमा में, मुझे बचाओ; मैं सीमा के बाहर अपने को खो न दूँ। मैं जो हूँ, पूर्ण रूप से वही होकर तुम्हारी प्रसन्नता को, तुम्हारे आनन्द को सुस्पष्ट रूपसे अपने अन्दर अनुभव करूँ। अर्थात्, मेरी जिस सीमा में तुम्हारा विश्वास है, उसी सीमा को आनन्द के साथ ग्रहण करके मैं अपने जीवन को कृतार्थ बना सकूँ, यही है मेरे अस्तित्व की मूलगत अन्तरतर प्रार्थना।

१६

सीमा और असीमता

धर्म शब्द का मौलिक अर्थ है, जो धारण कर रखता है। Religion शब्द की व्युत्पत्ति की आलोचना करने से जो बात समझ में आती है उसका भी मूल अर्थ है, जो बाँध रखता है।

इसलिए, एक तरफ देखने से मालूम होता है कि, मनुष्य ने धर्म को बन्धन कहकर स्वीकार किया है। धर्मने ही मनुष्य की चेष्टा के क्षेत्र को सीमाबद्ध करके संकीर्ण बना दिया है। इस बन्धन को स्वीकार करना, इस सीमा को प्राप्त करना ही मनुष्य की चरम साधना है।

क्योंकि सीमा ही सृष्टि है। सीमारेखा जितनी ही सुविहित सुस्पष्ट होती है सृष्टि उतनी ही सत्य और सुन्दर होती रहती है। आनन्द का स्वभाव ही यही है, सीमाको पृथक् कर देना। विधाता का आनन्द, विधान की सीमा में समस्त सृष्टि को बाँधता जा रहा है। कर्मी का आनन्द, कवि का आनन्द, शिल्प का आनन्द केवल स्फुटतर रूप से सीमा रचना कर रहा है।

धर्म में भी मनुष्य के मनुष्यत्व को उसकी सत्य सीमा में स्फुटतर बना डालने की शक्ति है। वह सीमा जितनी ही सहज होती है, जितनी ही सुव्यक्त होती है, वह उतनी ही सुन्दर बनती जाती है।

मनुष्य उतनी ही शक्ति उतना ही स्वस्थ्य और ऐश्वर्य प्राप्त करता है, मनुष्य में आनन्द उतना ही प्रकाशमान हो उठता है।

धर्म की सहायता से मनुष्य अपनी सीमा ढूँढ़ रहा है, फिरभी उस धर्म की सहायता से ही मनुष्य अपने असीम को ढूँढ़ रहा है। यही है आश्चर्य। सारे संसार में समस्त पूर्णता के मूल में ही हम लोग यह द्वन्द्व देख पाते हैं। जो छोटा बनाता है, वही बड़ा बनाता है, जो पृथक् कर देता है, वही एक बना कर लाता है, जो बाँधता है, वही मुक्ति प्रदान करता है; असीम ही सीमा को उत्पन्न करता है और सीमा ही असीम को प्रकट करती रहती है। वस्तुतः यह द्वन्द्व जहाँ ही सम्पूर्ण रूप से एकत्र हो कर मिल गया है वहाँ ही है पूर्णता। जहाँ उनका विच्छेद होकर एक ही अंग प्रबल हो उठता है, वहाँ ही सभी अमंगल होते हैं। असीम जहाँ सीमा को व्यक्त नहीं करता, वहाँ है वह शून्य, सीमा जहाँ असीम को निर्देश नहीं करती, वहाँ वह निरर्थक है। मुक्ति जहाँ बन्धन को अस्वीकार करती है, वहाँ वह उन्मत्तता है, बन्धन जहाँ मुक्ति को नहीं मानता, वहाँ वह उत्पीड़न है। हमारे देश में मायावाद ने समस्त सीमा को माया नाम दिया है। किन्तु, असल बात यह है, असीम से अलग हुई सीमा ही माया है, वैसे ही यह भी सच है, सीमा से पृथक् सीमा ही माया है। उसी तरह यह भी सच है, सीमा से पृथक् असीम भी माया है।

जो गान अपने सुर की सीमाको पूर्णरूप से पा गया है वह गान केवल सुसमष्टि को प्रकट नहीं करता—वह अपने नियमों के द्वारा ही आनन्द को, सीमा के द्वारा ही सीमा की अपेक्षा बड़े को व्यक्त करता है। गुलाबफूल संपूर्ण रूप से अपनी सीमा को पा गया है, इसीलिए उस सीमा के द्वारा वह एक असीम सौंदर्य को प्रकट करता रहता है। इस सीमा के द्वारा गुलाब-फूल प्रकृति-

राज्य में एक वस्तुविशेष है, किन्तु भावराज्य में वह आनन्द है। इस सीमा ने ही उसको एक तरफ बाँध दिया है और एक तरफ छोड़ दिया है।

इसी कारण देख पाता हूँ, मनुष्य की सभी शिक्षाओं के मूल में है संयम की साधना। मनुष्य अपनी चेष्टाओं को संयत करना सीख लेने से ही चल सकता है। भावना को बाँध सकने से ही वह सोच सकता है। वही कारीगर सुनिपुण है जो कर्म की सीमा को अर्थात् नियमों को जान गया है और मान गया है। वही मनुष्य अपने जीवन को सुन्दर बना सका है, जिसने उसे संयत कर दिया है। और सती स्त्री जैसे सतीत्व के संयम से ही अपने प्रेम की चरितार्थता प्राप्त करती है, वैसे ही जो मनुष्य पवित्र चित्त है, अर्थात् जिसने अपनी इच्छा को सीमा में बाँध दिया है, वही उनको प्राप्त करता है जो साधना के चरम फल हैं, जो परम आनन्दस्वरूप हैं।

इस धर्म को बन्धन रूप में दुःख रूप में स्वीकार किया गया है, कहा गया है धर्म का मार्ग शान लगाये गये क्षुर की धार की तरह दुर्गम है। वह मार्ग यदि असीम विस्तृत होता तो सभी मनुष्य जैसे-तैसे चल सकते थे, किसी को कहीं भी कोई बाधा विपत्ति नहीं रहती। किन्तु, वह पथ सुनिश्चित नियमों की सीमा में दृढ़ रूप से आबद्ध है, इसी लिए वह दुर्गम है। ध्रुव रूप से इस सीमा-अनुसरण के कठिन दुःख को मनुष्य को ग्रहण करना ही चाहिये। क्योंकि, इस दुःख के द्वारा ही आनन्द प्रकाशमान हो रहा है। इसी लिए उपनिषद में लिखा है, उन्होंने तपस्या के दुःखों के द्वारा ही यह जो कुछ है सबको बनाया है।

कवि कीट्सने कहा है, सत्य ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही सत्य है। सत्य ही सीमा है, सत्य ही नियम है, सत्य के द्वारा

सब कुछ विधृत हुआ है, इस सत्य का अर्थात् सीमा का व्यतिक्रम उपस्थित होने से ही सब-कुछ उच्छृङ्खल होकर विनाश प्राप्त होता है। असीम का सौन्दर्य इस सत्य की सीमा में प्रकाशित है।

सीमा और असीमता को यदि हम एक दूसरे से विच्छिन्न और विरुद्ध बनाकर देखें तो मनुष्य की धर्मसाधना बिलकुल ही निरर्थक हो जाती है। असीम यदि सीमा के बाहर रहे तो जगत् में ऐसा कोई सेतु नहीं है जिसके द्वारा उनको पाया जा सके। तब तो वे हम लोगों के लिए चिर-काल के लिए मिथ्या हैं।

किन्तु, मनुष्य का धर्म मनुष्य को कह रहा है, 'तुम अपनी सीमा को पा लेने से ही असीम को पाओगे। तुम मनुष्य बनो, उस मनुष्य बनने में ही तुम्हारी अनन्त की साधना सफल होगी। यहाँ ही है हमारा अभय, हमारा अमृत। जिस सीमा में हमारा सत्य है, उस सीमा में ही हमारी चरम परिपूर्णता है। इसीलिए उपनिषत् ने कहा है, ये ही हैं इसकी परमा गति, ये ही हैं इसकी परमा सम्पत्, ये ही हैं इसका परम आश्रय, ये ही हैं इसका परम आनन्द। असीमता और सीमा, ये और यह, बिलकुल ही आस-पास हैं, दो पक्षी बिलकुल ही एक दूसरे के शरीर से संलग्न हैं।

हमारे देश में भक्तितत्व के भीतर की बात यह है कि, सीमा के साथ असीम का जो योग है वह है आनन्द का योग अर्थात् प्रेम का योग। अर्थात् सीमा भी असीम के लिए जितनी है, असीम भी सीमा के लिए उतना ही है; दोनों दूसरे के लिए न रहें तो काम ही न चले।

मनुष्य ने कभी-कभी ईश्वर को दूर स्वर्ग राज्य में हटा दिया है। इसी तरह मनुष्य का ईश्वर भयंकर हो उठा है और इस भयंकर को वश में लाने के लिए भयग्रस्त मनुष्य तरह-तरह के

मन्त्रतन्त्रों आचार-अनुष्ठानों पुरोहितों और मध्यस्थों का शरणापन्न हुआ है। किन्तु मनुष्य जब उनको हृदयसे जान जाता है, तब उसका भय दूर हो जाता है, और मध्यस्थ को हटाकर प्रेम के योग से उसने उनके साथ मिलना चाहा है।

मनुष्य कभी-कभी सीमा को सब तरह से बदनाम करके गालियाँ देता रहता है। तब वह स्वभाव को पीड़न करके और संसार त्याग कर, असम्भव व्यायाम के द्वारा असीम की साधना करने में लग जाता है। मनुष्य तब समझता है, सीमा नामक वस्तु मानो उसकी अपनी ही वस्तु है, इसलिए उसके मुँह पर चूना-स्याही पोत देने से वह फिर किसी के शरीर पर नहीं लग सकती। किन्तु मनुष्य इस सीमा को कहाँ से पा गया। इस सीमा के असीम रहस्य को वह कितना जानता है। उसमें सामर्थ्य क्या है कि वह इस सीमा को लांघ जाय।

मनुष्य जब जान जाता है कि सीमा में ही असीम है, तभी मनुष्य समझ सकता है—यही रहस्य है प्रेम का रहस्य; यही तत्व है सौन्दर्य तत्व; यही ही है मनुष्य का गौरव; और जो, मनुष्य के भगवान हैं, इस गौरव से ही उनका भी गौरव है, सीमा ही असीम का ऐश्वर्य है, सीमा ही असीम का आनन्द है, क्योंकि सीमा के अन्दर ही उन्होंने अपने को दान कर दिया है और अपने को ग्रहण कर रहे हैं।

२०

शिक्षा-विधि

यहाँ आते समय मेरा एक संकल्प था, यहाँ के विद्यालयों को अच्छी तरह देख-सुनकर समझ लूँगा—शिक्षा के सम्बन्ध में यहाँ की कोई व्यवस्था हमारे देशमें उपयुक्त हो सकेगी या नहीं यह देख जाऊँगा। साधारण रीति से कुछ देख चुका हूँ, पत्र-पत्रिकाओं में यहाँ की शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ आलोचनाएँ भी पढ़ चुका हूँ। परीक्षाएँ तरह तरह की चल रही हैं, तरह-तरह की प्रणालियाँ उद्भावित हो रही हैं। एक दल कह रहा है, लड़कों की शिक्षा यथासम्भव सुखकर होनी चाहिये। दूसरा दल कह रहा है, लड़कों की शिक्षा में दुःख का भाग यथेष्ट परिमाण में न रहने से उन लोगों को संसार के लिए पक्का मनुष्य बनाया नहीं जा सकता। एक दल कह रहा है, आँखों से, कानों से, आभासों से शिक्षा के सभी विषयों को प्रकृति में शोषण कर लेने की व्यवस्था ही उत्कृष्ट व्यवस्था है। और एक दल कह रहा है, सचेष्ट भाव से अपनी शक्ति का प्रयोग कर साधना के द्वारा विषयों को आयत्त कर लेना ही यथार्थ फलदायक है। वस्तुतः यह द्वन्द्व किसी दिन भी न मिटेगा—क्योंकि मनुष्य की प्रकृति में यह द्वन्द्व सत्य है, सुख भी उसको शिक्षा देता है, दुःख भी उसे शिक्षा देता है, शासन न रहने से भी उसकी रक्षा नहीं है; स्वा-

धीनता न रहने से भी उसकी रक्षा नहीं है; एक तरफ उसका गिरी मिलनेवाली चीज का प्रवेश-द्वार खुला है, दूसरी तरफ उसको मिहनत करके लायी जानेवाली चीजों के आने-जाने का रास्ता खुला है। यह बात कहना सहज है कि, दोनों के बीच वाले रास्ते को अच्छी तरह चिह्नित कर लो, किन्तु कार्यतः वह असाध्य है। क्योंकि, जीवन की गति किसी दिन भी बिलकुल ही सीधी रेखा से नहीं चलती—भीतर-बाहर की तरह-तरह की बाधाओं और तरह-तरह के तकाजों से वह नदी की तरह टेढ़ी-मेढ़ी होकर चलती है, खुदी हुई नहर की तरह सीधी होकर पड़ी नहीं रहती। इस कारण उसके बीच की रेखा सीधी रेखा नहीं है, उसको भी केवल स्थान परिवर्तन करना पड़ता है। इस समय उसके लिए जो मध्य रेखा है, किसी दूसरे समय वही चरम प्रान्तरेखा है; एक जाति के लिए जो प्रान्तपथ है, दूसरी जाति के लिए वही मध्य पथ है। तरह-तरह के अनिवार्य कारणों से मनुष्य के इतिहास में कभी युद्ध आता है, कभी शान्ति आती है, कभी धन सम्पद का ज्वार आता है, कभी उसके भाटे का दिन उपस्थित होता है; कभी अपनी शक्ति से वह उन्मत्त हो उठता है, कभी अपनी असमर्थता के बोध से वह अभिभूत हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य जब कि एक तरफ झुक जाता है, तब दूसरी तरफ प्रबल खिंचाव देना ही इसके लिए सत् शिक्षा है, मनुष्य की प्रकृति जब प्रबल भाव से सजीव रहती है, तब अपने अन्दर से ही एक सहज शक्ति से अपने भार-सामंजस्य का पथ वह चुन लेती है। जिस मनुष्य को अपने शरीर पर दखल है, वह जब एक तरफ से धक्का खाता है, तब वह स्वभावतः ही दूसरी तरफ टेक कर अपने को संभाल लेता है, किन्तु शराबी जरा धक्का खाकर ही गिर जाता है और उसी अवस्था में पड़ा

रहता है। यूरोप में लड़कों को आदमी बनाने का मार्ग आप ही आप बदलता जा रहा है। इन लोगों का चित्त जितना ही तरह तरह के भावों के ज्ञान की अभिज्ञता के सम्पर्क से सचेतन होता जा रहा है, उतना ही इन लोगों की राह का परिवर्तन द्रुत होता जा रहा है।

इस कारण चित्त की गति के अनुसार ही शिक्षा का मार्ग निर्देश करना चाहिये। किन्तु जब कि गति विचित्र होती है और उसको सभी नेत्रों से स्पष्ट रूप से देख नहीं पाते, इसीलिए किसी दिन भी कोई एक मनुष्य या मनुष्यों का दाल इस पथ को दृढ़ता के साथ निर्दिष्ट नहीं कर सकता। बहुत से लोगों का बहुत सी चेष्टाओं के सम्मिलन से आप ही आप सहज रास्ता अंकित होता रहता है। इसीलिए सभी जातियों के लिए ही अपनी परीक्षा का मार्ग खुला रखना सत्य मार्ग आविष्कार करने का एकमात्र उपाय है।

किन्तु, जिस देश में सामाजिक विद्यालय की बँधी प्रथा से तिलमात्र हट जाने से भी जात खो देनी पड़ती है उस देश में मनुष्य बनने के मार्ग में शुरू से ही एक प्रकाण्ड विघ्न रहता है। सामाजिक अवस्था का परिवर्तन हो रहा है और होगा ही, कोई उसको रोक न सकेगा, फिर भी व्यवस्था को सनातन रेखा से पक्का बना रखने से मनुष्य के लिए वैसी दुर्गति का कारण और कुछ भी नहीं हो सकता। यह कैसी बात है। जैसे नदी हटती जा रही है, किन्तु पक्का घाट एक ही स्थान पर पड़ा हुआ है, पार ले जाने वाली नाव का मार्ग एक ही स्थान पर निर्दिष्ट है; उस घाट को छोड़कर दूसरे घाट पर उतरने से नाऊ धोबी बन्द हो जाते हैं। इसलिए घाट तो है, किन्तु जल नहीं मिलता, नाव है, किन्तु उसका चलना बन्द है।

ऐसी अवस्था में हमारा समाज हमारे समय के अनुसार उपयोगी शिक्षा हमें नहीं दे रहा है, हम लोगों को दो-चार हजार वर्ष पहले की शिक्षा दे रहा है, इस लिए मनुष्य बना देने के लिए सबसे बड़ा जो विद्यालय है वह हमारे लिए बन्द है। हमारे वर्तमान काल की तरफ देख कर हमारी जीवन-यात्रा के प्रति उस का कोई दावा नहीं है। एक दिन हमारे इतिहास की एक विशेष अवस्था में हमारे समाज ने मनुष्यों में से किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी को वैश्य या शूद्र बन जाने को कहा था। हम लोगों पर उसका यही एक कालोपयोगी दावा था, इसलिए इस दावे पर लक्ष्य रखकर शिक्षा की व्यवस्था विचित्र आकार में आप ही अपने को तैयार करती जा रही थी। क्योंकि सृष्टि का नियम भी यही है, एक मूल भाव का बीज जीवन के तकाजे से स्वयं ही अपनी शाखा-प्रशाखाएँ फैलाकर बढ़ जाता है, बाहर से कोई डाल-पत्ते लाकर उसमें जोड़ नहीं देता। हमारे वर्तमान समाज का कोई सजीव दावा नहीं है—अब भी वह मनुष्य को कह रहा है, 'ब्राह्मण बनो, शूद्र बनो।' जो कुछ कह रहा है उसे सत्य-रूप से पालन करना किसी तरह भी सम्भव नहीं है। इस लिए मनुष्य उसे केवल बाहरी तरफ से मान रहा है। ब्राह्मण बनते समय ब्रह्मचर्य नहीं है, सिर मुड़वा कर तीन दिनों के प्रहसन-अभिनय के बाद गले में सूत्र धारण करना है। तपस्या के द्वारा पवित्र जीवन की शिक्षा ब्राह्मण अब दे नहीं सकता, किन्तु पद-धूलि देते समय वह सकोच छोड़कर पैर पसार देता है। इधर जाति-भेद की मूल प्रतिष्ठा वृत्ति-भेद बिलकुल ही दूर हो गया है और उसकी रक्षा करना भी पूरा असम्भव हो गया है, फिर भी वर्ण-भेद के बाह्य विधि-निषेध सबही अचल होकर बैठे हुए हैं। पिंजड़े को उसकी सभी लोहे की सींकों और जंजीरों समेत

माननना ही पड़ेगा, परन्तु पक्षी मर चुका है। दाना-पानी बराबर देता जा रहा हूँ, किन्तु वह किसी प्राण की खुराक में नहीं लग रहा है। इसी प्रकार हमारे सामाजिक जीवन के साथ सामाजिक विधि का विच्छेद हो जाने से हम लोग केवल अनावश्यक काल-विरोधी व्यवस्था से बाधाग्रस्त हो गये हैं ऐसी बात नहीं, वरन् हम लोग सामाजिक सत्य रक्षा करने में असमर्थ हो रहे हैं। हम लोग मूल्य दे रहे हैं और ले रहे हैं, किन्तु उसके बदले में कोई सत्य वस्तु नहीं है। शिष्य गुरु को प्रणाम करके दक्षिणा चुकाता जा रहा है किन्तु गुरु शिष्य को गुरु का देना चुकाने की चेष्टा मात्र भी नहीं कर रहा है, और गुरु पुरा काल की भूली हुई भाषा में शिष्य को उपदेश दे रहा है, शिष्य में उसे ग्रहण करने लायक श्रद्धा भी नहीं है, शक्ति भी नहीं है, इच्छा भी नहीं है। इसका फल यह हो रहा है कि, हम लोग यह विश्वास धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं कि सत्य वस्तु की कोई आवश्यकता है। यह बात स्वीकार करने में हम किंचित् मात्र भी लज्जा अनुभव नहीं करते कि, बाहरी ठाट बचा रखना ही यथेष्ट है। यहाँ तक कि, यह बात कहने में भी हमें हिचक नहीं होती कि, व्यवहार में यथेच्छा चार करो किन्तु प्रकट रूप से उसे स्वीकार न करने मे कोई क्षति नहीं है। ऐसा मिथ्याचार मनुष्य को बाध्य होकर अवलम्बन करना पड़ता है। क्योंकि, जब तुम्हारी श्रद्धा दूसरे मार्ग में चली गयी है, तब भी समाज यदि कठोर शासन से आचार को एक ही स्थान में बाँध रखे तो उस हालत में समाज के पन्द्रह आने मनुष्य मिथ्याचार को धारण करने में लज्जा अनुभव नहीं करते। क्योंकि, मनुष्यों में वीर पुरुषों की संख्या थोड़ी है, इस लिए सत्य को प्रकट रूप से स्वीकार करने का दण्ड जहाँ असह्य रूप से अत्यन्त अधिक है, वहाँ कपटता को अपराध में गणना करने से

काम नहीं चलता। इस लिए हमारे देश में यह एक अद्भुत बात प्रति दिन दिखाई पड़ती है; मनुष्य एक चीज को अच्छी तरह अनायास ही स्वीकार कर सकता है, फिर भी उसी क्षण अम्लान चेहरे से वह कह सकता है, कि 'सामाजिक व्यवहार में मैं इसका पालन न कर सकूँगा।' हम लोग भी इस मिथ्याचार को क्षमा करते हैं, जब हम विचार कर देखते हैं, इस समाज में अपने सत्य विश्वास को काम में लगाने का महसूल कितने असाध्य-रूप से अतिरिक्त है।

इसलिए, समाज ने जहाँ जीवन-प्रवाह के साथ अपने स्वास्थ्य-कर सामंजस्य का पथ बिलकुल ही खुला नहीं रखा है, इस लिए पुराने युग की व्यवस्था जहाँ पग-पग पर बाधास्वरूप होकर उसे बद्ध करती जा रही है, वहाँ मनुष्य का जो विद्यालय सब से अधिक स्वाभाविक और प्रशस्त है, वही हम लोगों के लिए नहीं है ऐसी बात नहीं। वह उसकी अपेक्षा भयंकर है, वह है, साथ ही नहीं भी है, वह सत्य को मार्ग नहीं छोड़ देता और मिथ्या को जमा कर रखता है। यह समाज-गति को बिलकुल ही स्वीकार करना नहीं चाहता, इस लिए स्थिति को कलुषित कर डालता है।

सामाजिक विद्यालय की तो यही बद्ध दशा है, उसके बाद है राजकीय विद्यालय। वह भी एक बहुत बड़े साँचे में ढालने का कल है। देश की समस्त शिक्षा-विधि को वह एक साँचे में कड़ाई के साथ ढाल देगा, यही है उसकी एक मात्र चेष्टा। पीछे कहीं देश अपनी स्वतन्त्र प्रणाली आप ही उद्भावित करना न चाहे, यही है उसका सबसे अधिक भय का विषय। देश की मानसिक प्रवृत्ति में एकाधिपत्य फैलाकर वह अपना कानून चलायेगा, यही है उसका मतलब। इस कारण इस बृहत् विद्या का यन्त्र

किरानीकिरी का यन्त्र बनता जा रहा है। मनुष्य यहाँ नोटों के कंकड़ बटोर कर डिग्रियों के बस्ते लादते जा रहे हैं, किन्तु वह जीवन का खाद्य नहीं है। उसका गौरव केवल लादने का गौरव है, वह प्राणों का गौरव नहीं है।

सामाजिक विद्यालयों की पुरानी जंजीरें और राजकीय विद्यालयों की नयी जंजीरें, दोनों ही हमारे मन को जिस परिमाण में बाँध रही हैं उस परिमाण में वे मुक्ति नहीं दे रही हैं। यही है हम लोगों की एक मात्र समस्या। नहीं तो नयो प्रणाली से किस तरह इतिहास कंठस्थ करना सहज हो गया है, उसका मैं विशेष आदर नहीं करना चाहता। क्योंकि, मैं जानता हूँ, हम लोग जब प्रणाली को ढूँढते हैं तब एक असाध्य सस्ता पथ ढूढ़ते हैं हम सोचते हैं, जब कि उपयुक्त मनुष्य को नियमित रूप से पाना कठिन है, तब बँधी प्रणाली से उस अभाव को पूरा किया जा सकता है या नहीं। मनुष्य बार-बार वहाँ चेष्टा करके बार-बार ही असफल हुआ है और विपद में पड़ा है। घूम-फिर कर जिस तरह ही हम क्यों न चलें, अन्त में इस अलंघ्य सत्य में आकर रुकना ही पड़ता है कि, शिक्षक के द्वारा ही शिक्षा-विधान होता है, प्रणाली के द्वारा नहीं। मनुष्य का मन प्रगतिशील है और प्रगतिशील मन ही उसको समझ सकता है। इस देश में पुराने समय से लेकर आज तक एक-एक विख्यात शिक्षक जन्म ग्रहण कर चुके हैं, उन्हीं लोगों ने भगीरथ की तरह शिक्षा के पुण्य-स्रोत को आकर्षित कर संसार के पापों के बोझ को घटा दिया है और मृत्यु की जड़ता को दूर किया है। उन्हीं लोगों ने ही शिक्षा सम्बन्धी सब बँधे हुए विधानों के भीतर से भी छात्रों के मन में प्राण-प्रवाह संचारित कर दिया है। हमारे देश में भी अंग्रेजी शिक्षा के आरम्भिक दिनों की बात याद करके देखो। डिरोजियो, कैप्टेन

रिचार्ड-सन, डेविड हेयर ये लोग शिक्षक थे, शिक्षा के साँचे वे नहीं थे, नोटों के बोझों के वाहन नहीं थे। उस समय विश्व-विद्यालय का व्यूह ऐसा भयंकर नहीं था, तब उसके अन्दर प्रकाश और हवा के प्रवेश का उपाय था, तब नियमों के फाँक से शिक्षक अपना आसन बिछाने का स्थान बना सकते थे।

जिस तरह ही हो, हमें अपने देश में विद्या के क्षेत्र को चहारदीवारियों से मुक्त करना ही पड़ेगा। राजनैतिक आन्दोलन आदि बाह्य पन्थों में हम लोग अपनी चेष्टा को विक्षिप्त कर विशेष कोई फल नहीं पा रहे हैं। उस शक्ति को और उद्यम को सफलता के मार्ग में प्रवाहित कर स्वतन्त्ररूप से शिक्षादान का भार हमें स्वयं लेना ही पड़ेगा। देश के कामों में जो लोग आत्मसमर्पण करना चाहते हैं उनके लिए यही सर्वापेक्षा प्रधान काम है। विभिन्न शिक्षकों की विभिन्न परीक्षाओं के भीतर से हम अपने देश के शिक्षा-स्रोत को जब सचल बना सकेंगे तभी वह हमारे देश की स्वाभाविक सामग्री हो उठेगी। तभी हम लोग जगह-जगह पर समय-समय पर यथार्थ शिक्षकों को पा सकेंगे। तभी स्वभाव के नियमों से शिक्षक-परम्परा आप ही जागती जायगी। राष्ट्रीय नाम से चिह्नित करके हम लोग किसी एक विशेष शिक्षा-विधि को उद्भावित नहीं कर सकते। जो शिक्षा स्वजाति के अनेक लोगों की बहुत चेष्टाओं से बहुत प्रकार से चलायी जा रही है, उसे ही हम राष्ट्रीय कह सकते हैं। स्वजातीय के शासन से ही हो और विजातीय के शासन से ही हो, जब कोई एक विशेष शिक्षा-विधि समूचे देश को किसी एक ध्रुव आदर्श में बाँध डालना चाहती है तब हम उसे राष्ट्रीय न कह सकेंगे—वह है साम्प्रदायिक, इस लिए राष्ट्र के लिए वह है सांघातिक।

शिक्षा के सम्बध में एक महत् सत्य हम लोगों ने सीखा था। हम जान गये थे, मनुष्य मनुष्य से ही सीख सकता है, जैसे जल से ही जलाशय पूर्ण हो जाता है, शिखा के द्वारा ही शिखा जल उठती है, प्राण के द्वारा ही प्राण संचारित होता रहता है। मनुष्य को छाँट देने से ही वह फिर मनुष्य नहीं रहता वह तब आफिस-अदालत या कल-कारखाने की जरूरी सामग्री बन जाता है, तभी वह मनुष्य न बन कर मास्टर साहब बनना चाहता है, तभी वह फिर प्राण नहीं दे सकता, केवल सबक दे जाता है। गुरु-शिष्य की परिपूर्ण आत्मीयता के सम्बन्ध के भीतर से ही शिक्षा-कार्य सजीव स्रोत के रक्त-स्रोत की तरह चलाचल कर सकता है। क्योंकि शिशुओं का पालन और उनको शिक्षा का यथार्थ भार पिता-माता पर रहता है। किन्तु पिता-माता में वह योग्यता अथवा सुविधा न रहने से ही दूसरे उपयुक्त मनुष्यों की सहायता अति आवश्यक हो उठती है। ऐसी अवस्था में पिता-माता के बिना गुरु का काम नहीं चलता। हम लोग जीवन की श्रेष्ठ वस्तु को रुपयों से खरीद नहीं सकते या आंशिक रूप से ग्रहण नहीं कर सकते, स्नेह-प्रेम-भक्ति के द्वारा ही हम लोग उसे आत्मसात् कर सकते हैं। वही है मनुष्यत्व के पाक-यन्त्र का जारक रस। वही जैव सामग्री को जीवन के साथ सम्मिलित कर सकता है। वर्तमान काल में हमारे देश की शिक्षा में उस गुरु का जीवन ही सर्वापेक्षा अत्यावश्यक हो गया है। बचपन में निर्जीव शिक्षा की तरह भयंकर भार और कुछ भी नहीं है। वह मन को जितना देता है, उससे बहुत अधिक वह पीस कर निकाल देती है। हम अपनी समाजिक व्यवस्था में उस गुरु को ढूँढ़ रहे हैं, जो हमारे जीवन को गति प्रदान करेंगे, अपनी शिक्षा-व्यवस्था में हम लोग उसी गुरु को ढूँढ़ रहे हैं जो हमारे चित्त के गति-पथ को

बाधा-मुक्त करेंगे। जिस तरह ही हो, सब तरफ ही हम मनुष्य को चाहते हैं, उसके बदले में प्रणाली की वटिका खिलाकर कोई कविराज हमें बचा न सकेंगे।

- — —

२१

लक्ष्य और शिक्षा

मेरे कोई एक मित्र फलित ज्योतिष के सम्बधमें आलोचना करते हैं। उन्होंने मुझे एक बार कहा था कि जो सब मनुष्य विशेष कुछ भी नहीं हैं, जिनके जीवन में हाँ और नहीं नामक चीजें खूब स्पष्ट रूप से अंकित नहीं हैं, उनके सम्बन्ध में ज्योतिष की गणना ठीक दिशा नहीं पाती। उनके सम्बन्ध में शुभ ग्रहों और अशुभ ग्रहों का फल क्या है इसे हिसाब में लाना कठिन है। हवा जब जोरदार बहती हैं तब पाल वाला जहाज लहरा-लहरा कर दो दिन का रास्ता एक दिन में पार कर जायगा, यह बात कहने में समय नहीं लगता; किन्तु कागज की नाव इधर-उधर लुढ़कती हुई घूमती रहेगी, कि डूब जायगी, या क्या हो जायगी यह बताया नहीं जा सकता—जिसके लिए विशेष कोई एक बन्दरगाह नहीं है उसका अतीत भी क्या है और भविष्य भी क्या है। वह किस लिए प्रतीक्षा करेगा, किस लिए अपने को तैयार करेगा। उसके आशा-तापमा-नयन्त्र में दुराशा की उच्चतम रेखा अन्य देश की नैराश्य-रेखा के आसपास रहती है।

हमारे देश के वर्तमान समाज में यही अवस्था सब से अधिक सांघातिक अवस्था है, हमारे जीवन में सुस्पष्टता नहीं है। हम

लोग क्या हो सकते हैं, कितनी दूर तक आशा कर सकते हैं, यह बहुत मोटी लाइन से बड़ी रेखा से देश के किसी भी स्थान में अंकित नहीं है। आशा करने का अधिकार ही मनुष्य की शक्ति को प्रबल बना देता है। प्रकृति के गृहिणीपन में शक्ति का अपव्यय नहीं हो सकता, इस लिए आशा जहाँ नहीं है वहाँ से शक्ति बिदा ग्रहण कर लेती है। विज्ञान-शास्त्र कहता है आँख वाले प्राणी जब दीर्घकाल गुहावासी बने रहते हैं तब वे दृष्टि-शक्ति खो देते हैं, प्रकाश न रहेगा, पर दृष्टि रहेगी इस असंगति को जैसे दृष्टि सह नहीं सकती वैसे ही आशा नहीं है, पर शक्ति है यह भी प्रकृति के लिए असह्य है। इसी लिए विपद् के सामने पलायन का जब उपाय नहीं रहता जब पलायन की शक्ति भी शिथिल हो जाती है।

इसी लिए दिखाई पड़ता है, आशा करने का क्षेत्र बड़ा होने से ही मनुष्य की शक्ति भी बड़ी बन कर बढ़ जाती है। शक्ति तब स्पष्ट रूप से रास्ता देख पाती है और जोर लगा कर कदम फेंकती हुई चलती है। कोई समाज सबसे बड़ी जो चीज दे सकता है यह है सबसे बड़ी आशा। उस आशा की पूर्ण सफलता समाज का प्रत्येक मनुष्य ही पा जाता है ऐसी बात नहीं है, किन्तु अपनी जानकारी और गैर-जानकारी में उस आशा की तरफ सर्वदा ही एक तकाजा रहने के ही कारण प्रत्येक की शक्ति अपने खास साध्य के अन्त तक अग्रसर हो सकती है। एक जाति के लिए वही है सब से बड़ी बात। जन-संख्या का कोई मूल्य नहीं है— किन्तु, समाज में जितने मनुष्य हैं उनमें से अधिकांश की यथा सम्भव शक्ति-सम्पद् काम में लगी हुई है, मिट्टी में गड़ी हुई नहीं है, यही है समृद्धि। शक्ति जहाँ गतिशील बनी हुई है, धन जहाँ सजीव बनकर काम कर रहा है वहाँ ही ऐश्वर्य है।

इस पाश्चात्य देश में लक्ष्य-वेध का आह्वान सबने ही सुन लिया है, मोटे तौर से सभी जानते हैं कि वह क्या चाहता है, इसी लिए सभी अपने धनुष-बाण लेकर तैयार हो आये हैं। यज्ञसम्भवा याज्ञसेनी को पा जायँगे, इस आशा से, जो लक्ष्य बहुत ऊँचाई पर झूल रहा है, उसको बिंध डालने की प्रतिज्ञा सबने ही की है। इस लक्ष्य-वेध का निमंत्रण हम लोगों को नहीं मिला है। इसलिए क्या पाना चाहिये इस विषय में अधिक चिन्ता करना हमारे लिए अनावश्यक है और कहाँ जाना होगा यह भी हमारे सामने स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट नहीं है।

इस लिए जब हम ऐसे प्रश्न सुनते हैं—'हम लोग क्या सीखें, किस तरह सीखें, शिक्षा की कौन प्रणाली कहाँ किस तरह काम कर रही है, तब मुझे यही बात याद पड़ती है, शिक्षा नामक वस्तु तो जीवन के साथ संगति-हीन एक कृत्रिम वस्तु नहीं है। हम क्या होंगे और हम क्या सीखेंगे ये दोनों बातें बिलकुल ही शरीर-शरीर से सटी हुई हैं। बरतन जितना बड़ा रहता है, उससे अधिक जल उसमें नहीं अंटता।

चाहने की चीज हमारे पास बहुत अधिक नहीं है। समाज हम लोगों को कोई बड़ी बात नहीं सुना रहा है, किसी बड़े त्याग में नहीं ले जा रहा है—उठने-बैठने खाने-पीने छूआ-छूत रखने के कुछ कृत्रिम निरर्थक नियमपालन के सिवा हमारे पास से वह और किसी विषय में कोई कैफियत नहीं चाहता। राजशक्ति ने भी हमारे जीवन के सामने कोई बृहत् संचरण का क्षेत्र निर्विघ्न नहीं बना दिया है; वहाँ के कँटीले घेरे में हम जितनी आशा कर सकते हैं वह नितान्त ही तुच्छ है, और उस घेरे के छिद्र से हम लोग जितना देख पाते हैं वह भी अति साधारण है।

जीवन के क्षेत्र को हम बड़े रूप में देख नहीं पाते इसीलिए जीवन को बड़ा बना डालने और बड़े रूप में उत्सर्ग कर देने की बात हमें स्वभावतः ही याद नहीं पड़ती। उस सम्बन्ध में हम जितना सोचने लगते हैं, वह पुस्तकगत चिन्ता है, जितना काम करने लगते हैं वह दूसरों का अनुकरण है। हमारी एक और भी विपद् यह है कि, जो लोग हमारे पिंजड़े के दरवाजे को एक पल के लिए खोल नहीं देते वे ही लोग दिन-रात कहा करते हैं— 'तुम लोगों में उड़ने की शक्ति नहीं है।' पक्षी का बच्चा तो बी० ए० पास करके उड़ना नहीं सीखता, उड़नेका अवसर पाता है इसीलिए वह उड़ना सीखता है। वह अपने स्वजन समाज के सभी को उड़ते देखता है; वह निश्चय ही जानता है, उसको उड़ना ही पड़ेगा। उड़ सकना सम्भव है, इस सम्बन्ध में किसी दिन उसके मनमें सन्देह आकर उसे दुर्बल नहीं बना देता। हमारा दुर्भाग्य यह है कि, दूसरे हमारी शक्ति के सम्बन्ध में सर्वदा सन्देह प्रकट करते हैं इस कारण, और उस सन्देह को मिथ्या सिद्ध करने का हम कोई क्षेत्र नहीं पाते इसी लिए, भीतर ही भीतर अपने सम्बन्ध में भी एक सन्देह बद्धमूल हो जाता है। इसी तरह, अपने प्रति जो मनुष्य विश्वास खो देता है, वह किसी बड़ी नदी को पार करने की चेष्टा भी नहीं कर सकता; अति छोटी सीमा के भीतर तट के आसपास वह घूमता फिरता है और जिस दिन वह किसी तरह बागबाजार से बराहनगर तक उलटे बहाव को ठेल कर जा सकता है उस दिन वह सोचता है, 'मैंने अविकल कोलम्बस के समान कीर्ति कर डाली है।'

तुम किरानी की अपेक्षा बड़े हो, डिप्टी-मुन्सिफ की अपेक्षा बड़े हो, तुम जो कुछ सीख रहे हो वह, आतिशबाजीकी तरह किसी प्रकार स्कूल मास्टरी तक उड़कर उसके बाद पेन्शनभोगी जराजीर्णता

में राख बन जमीन पर गिरने के लिए नहीं है, यह मन्त्र जपने देने की शिक्षा ही हमारे देश में सबसे जरूरी शिक्षा है— यह बात हमें रात-दिन याद रखनी पड़ेगी। इसे समझ न सकने की मूढ़ता ही हमारी सबसे बड़ी मूढ़ता है। हमारे समाज में यह बात हमें समझ में नहीं आती, हमारे स्कूलों में भी यह शिक्षा नहीं है।

किन्तु यदि कोई यह समझ लें कि, इस हालत में शायद देश के सम्बन्ध में मैं हताश हो गया हूँ, तो वे भूल समझेंगे। हम कहाँ हैं, किस तरफ जा रहे हैं, यह सुस्पष्ट रूप से जान लेना चाहिये। वह जान लेना जितना ही अप्रिय क्यों न हो, तो भी वह सबसे पहले आवश्यक है। हम लोग अबतक बारबार अपनी दुर्गति के सम्बन्ध में अपने को किसी तरह भुलाकर आराम पाने की चेष्टा करते रहे हैं। यह बात कहने से कोई लाभ नहीं है कि मनुष्य को मनुष्य बना देने के बारे में हमारा सनातन समाज सारे संसार में सभी समाजों का सिरमौर है। इतनी बड़ी एक अद्भुत अत्युक्ति, जो मानव के इतिहास में प्रत्यक्ष रूप से ही अपने को प्रमाणित कर चुकी है, उसको आडम्बर के साथ घोषित करना निश्चेष्टता की बरजोरी कैफियत है; जो मनुष्य किसी तरह भी कुछ न करेगा, और न हिलेगा, वह इसी तरह अपने सामने और दूसरों के सामने अपनी लज्जा बचाना चाहता है। शुरू में ही अपने इस मोह को कठिन आघात से छिन्न कर देना चाहिये। जहरीले फोड़े का चिकित्सक जब अस्त्राघात करता है तब वह घाव अपने आघात के मुख को केवल ही ढक देना चाहता है, किन्तु सुचिकित्सक फोड़े की उस चेष्टा को प्रश्रय नहीं देता, जब तक आरोग्य के लक्षण नहीं दिखाई देते तब तक प्रति दिन ही घाव का मुख खुला रखता है। हमारे देश का प्रकाण्ड जड़

रोला फोड़ा विधाता के पास से एक बहुत बड़ा अस्त्राघात पा गया है; यह वेदना उसका प्राप्य है, किन्तु वह प्रतिदिन इसको धोखा देकर छिपा रखने की चेष्टा कर रहा है। वह अपने अपमान को झूठ मूठ ही छिपा रखने के प्रयास में उस अपमानके फोड़े को चिर-स्थायी रूप से ढक रखने का उद्योग कर रहा है। किन्तु जितनी बार वह ढक देगा, चिकित्सक का अस्त्राघात उतनी बार ही उसके उस मिथ्या अभिमान को विदीर्ण कर देगा। यह बात उसको एक दिन सुस्पष्ट रूप से स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि, वह फोड़ा बाहर से जोड़ी हुई आकस्मिक वस्तु नहीं है। यह उसके भीतर की ही व्याधि है, दोष बाहर का नहीं है, उसका रक्त दूषित हो गया है; नहीं तो ऐसी सांघातिक दुर्बलता, ऐसी मोहाविष्ट जड़ता मनुष्य को इतने दीर्घकाल तक इस तरह सब विषयों में परास्त करके नहीं रख सकती। हमारे समाज ने ही हमारे मनुष्यत्व को पीड़ित किया है, इसकी बुद्धि को और शक्ति को अभिभूत कर दिया है, इसीलिए वह संसार में किसी प्रकार ही सामर्थ्य नहीं पा रहा है। यह अपने सम्बन्ध में अपने गाह को जोर के साथ स्पष्ट रूप से टूटते देना निश्चेष्टता और नैराश्य का लक्षण नहीं है। यही है चेष्टा के मार्ग को मुक्ति देने का उपाय और मिथ्या आशा का घर उजाड़ देना ही नैराश्य को यथार्थ रूप से निर्वंश करने का मार्ग है।

मेरे कहने का मतलब यह है, शिक्षा किसी देश में भी सम्पूर्णतः स्कूल से नहीं प्राप्त होती, और हमारे देश में भी नहीं हो रही है। परिपाक शक्ति हलवाई की दूकान में तैयार नहीं होती, खाद्य ही तैयार होता है। मनुष्य की शक्ति जहाँ वृहत् रूप से उद्यमशील है वहाँ ही उसकी विद्या उसकी प्रकृति के साथ मिलती है। हमारे जीवन का संचालन नहीं हो रहा है, इसीलिए हम

अपनी पोथी की विद्या को अपने प्राणों में आयत्त करने में समर्थ नहीं हो रहे हैं।

यह बात मन में उदित हो सकती है, तो फिर हमलोगों की आशा कहाँ है। क्योंकि जीवन का संचालन-क्षेत्र तो सम्पूर्ण रूप से हमारे हाथ में नहीं है, पराधीन जाति के सामने तो शक्ति का द्वार खुला नहीं रह सकता।

यह बात सच होने पर भी सम्पूर्ण सत्य नहीं है। वस्तुतः, शक्ति का क्षेत्र सभी जातियों के लिए किसी न किसी तरफ सीमा-बद्ध है। सर्वत्र ही अन्तर प्रकृति और बाहर की अवस्था दोनों एक साथ मिलकर आपस में अपने क्षेत्र को निर्निष्ट कर लेती हैं। यह सीमानिर्दिष्ट क्षेत्र ही सबके लिए जरूरी है, क्योंकि, शक्ति को विक्षिप्त करना शक्ति का व्यवहार करना नहीं है। किसी देश में भी अनुकूल अवस्था मनुष्य को निर्विघ्न स्वाधीनता नहीं देती, क्योंकि वह है व्यर्थता। भाग्य हमलोगों को जो कुछ देता है, वह बाँटकर ही देता है—एक तरफ जिसके हिस्से में ज्यादा पड़ता है दूसरी तरफ उससे कुछ कम अवश्य पड़ेगा।

इसलिए, मुझे क्या मिला, यह मनुष्य के लिए कोई बड़ी बात नहीं है, उसको किस तरह ग्रहण करूँगा, व्यवहार करूँगा वही खूब बड़ा है। सामाजिक या मानसिक कोई भी व्यवस्था जब उस ग्रहण की शक्ति को बाधा देती है, उस व्यवहार की शक्ति को पक्षाघातग्रस्त करती है, तब वही है सर्वनाश की जड़। मनुष्य जहाँ किसी भी चीज को जाँच करके नहीं लेने देता, छोटी-बड़ी सभी चीजों को बँधे विश्वास के साथ ग्रहण करने और बँधे नियमों से व्यवहार करने को कहता है, वहाँ अवस्था जितनी ही अनुकूल क्यों न हो, मनुष्यत्व को शीर्ण होना ही पड़ेगा। हम अपनी अवस्था की संकीर्णता के बारे में आक्षेप करते रहते हैं,

किन्तु हमारी अवस्था यथार्थतः क्या है, यह हम लोग ही नहीं जानते, उसको हमने सब तरफ से परख करके नहीं देखा है, जाँच करके देखने की उस प्रवृत्ति को ही अपराध कहकर हमने सबसे पहले रस्सी-डोरी से बाँध दिया है; मानव-प्रकृति पर भरोसा न रहने के कारण हम यह बात बिलकुल ही भूल गये हैं कि, मनुष्य को भूल करने का मौका न देने से मनुष्य को सीखने देना नहीं होता। मनुष्य को साहस के साथ अच्छा बनने का प्रशस्त अधिकार न देकर उसको सनातन नियमों से सब तरफ ही खर्व करके, भलमनसाहत के जेलखाने में चिरजीवन कारादण्ड का विधान कर रखने की व्यवस्था जिन लोगों ने की है, वे जब तक अपनी बेड़ियों को न खोल देंगे और उस बेड़ी को ही अपने हाथ-पैर की अपेक्षा पवित्र और परमधन कहकर उसकी पूजा करना न छोड़ देंगे, तब तक भाग्य-विधाता की किसी उदारता से उनका कोई स्थायी उपकार न हो सकेगा।

अपनी अवस्था को अपनी शक्ति की अपेक्षा प्रबल कहकर गणना करने की तरह दीनता और कुछ भी नहीं है। मनुष्य की आकांक्षा के वेग को उसके व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत भोग, उसको व्यक्तिगत मुक्ति की तुच्छ प्रलुब्धता से ऊपर की तरफ जगा न देने से ही, उसकी ऐसी कोई बाह्य अवस्था ही नहीं रहती, जिसके बीच से वह बढ़ कर ऊपर नहीं उठा सकता; यहाँ तक कि, उस अवस्था में बाहर की दरिद्रता ही उसको बड़ा बनने में सहायता करती है। कटहल के पेड़ को तेज गति से बढ़ा देने के लिए हमारे देश में उसके चारे को बाँस के चोंगे में घेर कर बाँध रखते हैं। वह चारा आस-पास डालपात फैला नहीं सकता, इसीलिए किसी तरह चोंगे के घेरे को पारकर प्रकाश में उठाने के लिए वह अपनी शक्ति को एकाग्र भाव से चलाता है और सीधा होकर अपनी शक्ति को लांघ

जाता है, किन्तु उस चारे की मज्जा में यह दुर्निवार वेग सजीव रहना चाहिये कि, 'मुझे ऊपर चढ़ना ही पड़ेगा, बढ़ना ही पड़ेगा; प्रकाश को यदि अपने पास ही न पाऊँ, तो उसे ऊपर ढूंढ़ने के लिए बाहर निकाल पड़ूँगा, मुक्ति को यदि एक तरफ न पाऊँ तो उसे दूसरी तरफ पाने के लिए चेष्टा न छोड़ूँगा।' 'चेष्टा करना ही अपराध है, जैसा हूँ, वैसा ही रहूँगा,' कोई प्राणवान वस्तु ऐसी बात जब कहती है, तब उसके लिए बाँस का चोंगा भी जैसा अनन्त है, आकाश भी वैसा ही है।

मनुष्य की सर्वापेक्षा जो परम आशा की सामग्री है, वह कभी असाध्य नहीं हो सकती, यह विश्वास मेरे मन में दृढ़ है। हमारी जाति की मुक्ति यदि अपने पास की तरफ न रहे तो वह ऊपर की तरफ अवश्य ही है, यह बात एक क्षण भूल जाने से काम न चलेगा। डाल-पत्तों को पार कर पास की वृद्धि को ही हम लोग चारो तरफ देख रहे हैं, इस कारण उसी को एकमात्र परमार्थ कहकर हमने पकड़ रखा है; किन्तु ऊँचाई की तरफ की गति भी जीवन की गति है, वहाँ भी सार्थकता का फल सम्पूर्ण होकर ही फलता है। असल बात यह है कि, एक तरफ हो, या दूसरी तरफ हो, भूमा के आकर्षण को स्वीकार करना ही पड़ेगा; हम लोगों को बड़ा होना पड़ेगा। वह वाणी हमलोगों को कान रोपकर सुननी पड़ेगी, जो हम लोगों को कोने से बाहर निकाल देती है, जो हम लोगों को अनायास आत्मत्याग करने की शक्ति देती है, जो केवल आफिस की दीवार और नौकरी के पिंजड़े में हमारी आकांक्षा को बन्द करके नहीं रखती। हमारे जातीय जीवन में वही वेग जब संचारित होगा, वह शक्ति जब प्रबल हो उठेगी, तब प्रति क्षण ही अपनी अवस्था को हम अतिक्रम करते रहेंगे,

तब हमारी बाह्य अवस्था का संकोच हमें जरा भी लज्जा न दे सकेगा।

वर्तमान के इतिहास को सुनिर्दिष्ट रूप से देखा नहीं जाता, इसीलिए जब प्रकाश आसन्न हो जाता है तब अन्धकार को ही चिरन्तन समझने का भय होता है। किन्तु मैं तो स्पष्ट ही समझता हूँ, हमारे चित्त में एक चेतना का अभिघात आ गया है। इसका वेग लगातार अपना काम करता रहेगा, कभी हमलोगों को निश्चिन्त होकर न रहने देगा। हमारी प्राणशक्ति किसी तरह भी न मरेगी। जिस तरफ से ही क्यों न हो उसको बचना ही पड़ेगा; वही हम लोगों की दुर्जय प्राणचेष्टा जहाँ ही जरासा छेद पा रही है, उसी जगह से अभी ही हम लोगों को प्रकाश की तरफ ठेलती जा रही है। मनुष्य के सामने जो पथ सबसे अधिक उन्मुक्त रहने के ही कारण जिस पथ को मनुष्य भूला रहता है, राजा जिस पथ में विघ्न नहीं डाल सकता, और दारिद्र्य जिस पथ का राह-खर्च छीन लेने में असमर्थ है—स्पष्ट ही देख रहा हूँ, वही धर्म का पथ हमारे इस सर्वत्र प्रतिहत चित्त को मुक्ति की तरफ खींच रहा है। हमारे देश में इस पथ-यात्रा का आवाहन बार बार विभिन्न दिशाओं में विभिन्न कंठों में जाग रहा है। इस धर्मबोध के जागरण की तरह इतना बड़ा जागरण जगत् में और कोई नहीं है, यही मूक को बातें करने देता है, पंगु को पर्वत लंघन करने देता है, यह हमारे समस्त चित्त को चैतन्य करेगा, सारी चेष्टाओं को चलावेगा; यह आशा के प्रकाश से और आनन्द के संगीत से हमारे बहुत दिनों के वंचित जीवन को गौरवान्वित कर देगा। मानव-जीवन का वह परम लक्ष्य जितना ही हमारे सामने स्पष्ट होता जायगा, उतना ही अपने आपको कृपणरहित भाव से हमलोग दान कर सकेंगे, और समस्त छोटी आकांक्षाओं का जाल छिन्न हो जायगा। अपने देश

के इस लक्ष्ण को यदि हमलोग सम्पूर्ण सचेतन भाव से याद रखें तभी हमारे देश की शिक्षा को हम सत्य आकार में दान कर सकेंगे। जोवन का कोई लक्ष्य नहीं है, किन्तु शिक्षा है, इसका कोई अर्थ ही नहीं है। हमारी भारतभूमि तपोभूमि बनेगी, साधकों का साधन-क्षेत्र बन जायगी, साधुओं का कर्म-स्थान बनेगी, यहाँ ही त्यागी के सर्वोच्च आत्मोत्सर्ग की होमाग्नि जलेगी, इस गौरव की आशा को यदि हम याद रखें, तो रास्ता आप ही तैयार हो जायगा और अकृत्रिम शिक्षा-विधि आप ही अपने को अंकुरित पल्लवित और फलवती बना डालेगी।

२२

अमेरिका की चिट्ठी

आज है रविवार। गिरजाघर का घंटा बज रहा है। सबेरे आँखें खोलते ही मैंने देख लिया, बर्फ से सबकुछ सफेद हो गया है। मकानों की काले रङ्ग की ढालू छतें इस विश्वव्यापी सफेदी के आविर्भाव को छाती रोप कर कह रही हैं, 'आधे आँचल में बैठो!' मनुष्य के आने-जाने के रास्ते में धूल-कीचड़ का राजत्व बिलकुल ही दूर करके शुभ्रता की निश्चल धारा मानो शतधा विभक्त हो कर बहती चली जा रही है। पेड़ों पर एक भी पत्ता नहीं है शुक्रम् शुद्धमपापविद्धम्, डालियों की ऊपरी चूड़ा पर अपना आशीर्वाद बरसा चुके हैं। रास्ते के दोनों तरफ की घास यौवन के अन्तिम चिह्न की तरह अभी तक पूर्ण रूपसे आच्छन्न नहीं हुई है, किन्तु वह धीरे-धीरे सिर झुका कर हार मान रही है। पक्षियों ने बोलना बन्द कर दिया है, आकाश में कहीं भी कोई आवाज नहीं है। बर्फ उड़-उड़ कर गिर रही है, किन्तु उसका पदसंचार जरा भी सुनाई नहीं पड़ता। वर्षा आती है वृष्टि के शब्दों से डाल-पत्तियों की मरमराहट से दिग्दिगन्त को मुखरित करके राजवद्भुतध्वनिः—किन्तु हम लोग सभी जब सो रहे थे, तब आकाश का तोरण-द्वार चुपके से खुल चुका था, समाचार लेकर कोई दूत नहीं आया, उसने किसी की नींद नहीं तोड़ दी। स्वर्गलोक के निभृत आश्रम

से निःशब्दता मर्त्यलोक में उतर रही है, उनका घर्घर शब्द करने वाला रथ नहीं है, मातलि उनके मत्त घोड़े को विद्युत् के कषाघात से हाँक कर नहीं ला रहा है; ये उतर रही हैं अपने सफेद पक्ष को खोलकर, अति कोमल है उसका संचार, अति अबाध है उसकी गति; कहीं भी उसका संघर्ष नहीं है, किसी को भी वह जरा आघात नहीं करता। सूर्य ढका हुआ है; प्रकाश की प्रखरता नहीं है; किन्तु समूची पृथ्वी से एक अप्रगल्भ दीप्ति उद्भासित होती जा रही है, यह ज्योति मानो शान्ति और नम्रता से सुसम्वृत है, इसका अवगुंठन ही प्रकाश है।

स्तब्ध शीत के प्रभात में इस अपरूप शुभ्रता के निर्मल आविर्भाव को मैं झुक कर नमस्कार करता हूँ—इसको अपने हृदय में वरण कर लूँ। कहूँ, 'तुम इसी तरह धीरे-धीरे फैल जाओ। मेरी समस्त चिन्ताओं समस्त कल्पनाओं समस्त कर्मों को ढक दो। गंभीर रात्रि का असीम अन्धकार पार कर तुम्हारी निर्मलता मेरे जीवन में चुपचाप अवतीर्ण हो जाय, मेरे नवप्रभात को अकलंक शुभ्रता में उद्बोधित कर डाले—विश्वानि दुरितानि परासुव—कहीं भी कोई कालिमा कुछ भी मत रखना, तुम्हारे स्वर्ग का आलोक जैसा निरवच्छिन्न शुभ्र है, मेरे जीवन के धरातल को वैसे ही एक अखण्ड शुभ्रता में पूर्ण रूप से ढक दो।'

आज के प्रभात की इस अतलस्पर्श शुभ्रता के बीच में अपनी अन्तरात्मा को अवगाहन करा रहा हूँ, बहुत ही जाड़ा है, बड़ा ही कठिन यह स्नान है। अपने को बिलकुल ही शिशु की तरह नग्न कर देना पड़ेगा और डूबते-डूबते बिलकुल ही कुछ भी बाकी न रहेगा—ऊपर शुभ्र, पीछे शुभ्र, आरम्भ में शुभ्र, अन्त में शुभ्र—शिव एव केवलम्—समस्त देह-मन को शुभ्र के बीच एकदम निविष्ट करके नमस्कार—नमः शिवाय च शिवतराय च।

वार्धक्य की कान्ति क्या ही महत् क्या ही गम्भीर सुन्दर है, मैं यही देख रहा हूँ। जो कुछ वैचित्र्य है सब ही धीरे-धीरे ढक गया, अनवच्छिन्न एक की शुभ्रता ने समस्त को ही अपनी ओट में खींच लिया। समस्त गान ढक गया; प्राण ढक गया, वर्णच्छटा की लीला सफेदी के साथ मिल गयी। किन्तु, यह तो मरण की छाया नहीं है। हम लोग जिसको मरण कह कर जानते हैं, वह तो काले रङ्ग का है; शून्यता तो आलोक की तरह सफेद नहीं है, वह तो अमावस्या की तरह अन्धकारमय है। सूर्य की शुभ्र रश्मि ने अपनी लाल नील समस्त छटा को बिलकुल ही ढक लिया है, किन्तु उसको नष्ट नहीं कर दिया है, उसको परिपूर्ण रूप से वह आत्मसात् कर गयी है। आज निस्तब्धता के अन्तर्निगूढ़ संगीत ने मेरे चित्त को भीतर ही रसपूर्ण कर दिया है। आज पेड़-पौधों ने अपने सभी आभरणों को गिरा दिया है, एक पत्ते को भी बाकी नहीं रखा है; उसने अपने प्राणों की समस्त प्रचुरता को अन्तर की अदृश्य गभीरता में पूरा संग्रह कर लिया है। बनश्री मानो अपनी समस्त वाणी को खत्म करके अपने मन से केवल ओंकार मन्त्र को चुपचाप जप रही है। मुझे यही मालूम हो रहा है, मानो तपस्विनी गौरी अपना बसन्त पुष्पाभरण त्याग कर शुभ्र वेश से शिव की शुभ्रमूर्ति का ध्यान कर रही हैं। जो कामना आग लगाती है; जो कामना विच्छेद लाती है, उसका वे क्षय करती जा रही हैं। उस अग्निदग्ध कामना की समस्त कालिमा थोड़ी-थोड़ी करके वही तो विलुप्त होती जा रही है, जितनी दूर दिखाई पड़ता है, एकदम सफेदी से सफेद हो गया, शिव के साथ मिलन होने में अब कहीं भी बाधा नहीं रही। इस बार जो शुभ परिणय आसन्न है, आकाश में सप्तर्षिमण्डल के पुण्य आलोक से जिसकी वार्ता लिखी हुई है, इस तपस्या को

गम्भीरता में उसका निगूढ़ आयोजन चल रहा है; उत्सव का संगीत वहाँ घनीभूत हो रहा है, माला-परिवर्तन के फूलों की डलिया विश्व-नेत्रों के अगोचर में वहाँ भरती जा रही है। इस तपस्या को वरण करो, हे मेरे चित्त, अपने को नत करके निस्तब्ध बना डालो—शुभ्र शान्ति तुमको स्तर स्तर पर ढक कर स्थिरप्रतिष्ठ गूढ़ता के अन्दर तुम्हारी समस्त चेष्टाओं को एकत्र कर डाले, निर्मलता का देवदूत आकर एक बार इस जीवन के सब कूड़े को एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक लुप्त कर डाले, उसके बाद इस तपस्या का स्तब्ध आवरण एक दिन उठ जायगा, एकदम दिग्दिगन्त आनन्द कलसी से भर जायगा और नया जागरण, नवीन प्राण, नये मिलन का मंगलोत्सव दिखाई पड़ने लगेगा।